लाज की
छाया में
कहानी संकलन

ताज की छाया में

(कहानी संग्रह)

सम्पादक
शिवदानसिंह चौहान
रामगोपालसिंह चौहान

प्रकाशक
साहित्य-रत्न-भण्डार,
साहित्य-कुञ्ज, आगरा ।

प्रकाशक
साहित्य-रत्न-भण्डार,
साहित्य-कुञ्ज, आगरा।

प्रथम संस्करण
मई १९५७

मूल्य ३।।।)

आवरण पृष्ठ
कमल बोस

शीर्षक डिजाइन
घनश्याम अस्थाना

मुद्रक
साहित्य-प्रेस, आगरा।

आगरे के

छेनी, हथौड़ा, कूँची और क़लम

के धनी

उन कलाकारों के नाम

जिन्होंने अपनी प्रतिभा से

आगरे का नाम उजागर किया।

आपसे कुछ कहना है—

और वह यह कि आज हिन्दी में अनेक कहानी संग्रह प्रकाशित हो रहे हैं। यह भी उसी तरह का एक कहानी-संग्रह है। लेकिन नहीं, इसमें कुछ अंतर है। यह कहानी संग्रह लेखकों और प्रकाशक के रूप में महेन्द्रजी के परस्पर सामूहिक सहयोग के परिणाम स्वरूप प्रकाशित हो रहा है। इसके लिए कहानीकारों ने एक योजना बनाई थी जिससे लेखक और प्रकाशक सहयोग से काम कर सकें। उस योजना के अविकसित रूप का यह परिणाम है। सम्भव है यह योजना विकसित होकर बड़ा रूप ग्रहण कर सके। इच्छा है कि इस योजना के अन्तर्गत सहयोगी लेखकों की सभी तरह की कृतियाँ प्रकट हों और पत्र-पत्रिकायें भी प्रकाशित की जायँ। परन्तु अभी तो यह संग्रह ही आपकी भेंट है।

इस संग्रह में कहानी संचय करने में किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं किया गया है। योजना दिमाग में आने के पश्चात् जो लोग साथ हो सके उन्हें ले लिया। चाहने पर भी जो लोग इसमें साथ नहीं आ सके हैं, उनका सहयोग आगामी प्रकाशनों में चाहेंगे और हमारा विश्वास है कि वह हमें मिलेगा।

इस संग्रह को प्रकाशित होकर आप तक पहुँचने योग्य बनाने में जिन मित्रों और बुजुर्गों ने मौन या मुखर सहयोग दिया—बढ़ावा देकर, योजना की सराहना करके प्रोत्साहन करने में, या हतोत्साहित करके प्रोत्साहित करने में—उन सबका हम आभार मानते हैं। बाबू गुलाबराय, डा० रामविलास शर्मा तथा डॉ० सत्येन्द्र ने इन कहानियों को आद्योपान्त पढ़कर अपनी अमूल्य सम्मतियाँ दीं और इस प्रकार हमें बढ़ावा दिया। इस दौड़-धूप मय पथ के साथियों में से राय साहब सिंह 'अजीत' ने दिन-दुपहरी की तपन की परवाह न करके निरन्तर मोटर साइकिल पर घूम-घूम कर कहानियाँ जुटाने में तथा राममोहनराय खन्ना और हरिहरशरण जैसे मौन और अपनी कहानियों के प्रकाशन की ओर से उदासीन कहानीकारों को भी खोज निकालने में बेहद मदद की। श्री राजनाथ शर्मा और प्रोफेसर शाह नसीर फरीदी ने भी कई कामों में हाथ बँटाया।

घनश्याम अस्थाना ने कहानियों के शीर्षक-डिजाइन बनाकर तथा प्रसिद्ध चित्रकार कमल बोस ने कवर डिजाइन बनाकर संग्रह को अनुपम सज्जा प्रदान की।

जब संग्रह की योजना एक बार निष्प्राण-सी हो चली थी तब श्री महेन्द्रजी ने ही प्रकाशक के रूप में उसका सहयोगी बनकर उसे सफल बनाया और सहकारी प्रकाशन की योजना को कार्यान्वित करने में प्रमुख भाग लेने का बीड़ा उठाकर हम सबको बड़ा बल दिया। उनको धन्यवाद तो कैसे दिया जाय क्योंकि योजना में सहयोगी बनकर तो वह अब हम में से ही एक हो गये हैं।

इस संग्रह में लेखकों की सर्वश्रेष्ठ रचनाओं को ही संकलित किया गया है। उनका चुनाव और सम्पादन श्री शिवदानसिंह चौहान ने किया है, जिससे इस संग्रह की उत्कृष्टता में किसी को सन्देह नहीं रहना चाहिये।

संग्रह की कहानियों के चुनाव में दृष्टि यह रही है कि उनसे जीवन के विविध क्षेत्रों के सम-असम पहलुओं की गत्यात्मक झाँकी प्राप्त हो सके। कहानियाँ प्रेम से लेकर जीवन को प्रगति देने के अडिग सङ्घर्ष के क्षेत्र तक व्याप्त हैं; उनमें समग्र रूप से मानव में अपने जीवन को अधिक उदात्त और मानवीय बनाने की अडिग आस्था भरने की शक्ति है जिसे अभिनव कलारूपों में प्रस्तुत किया गया है। ये कहानियाँ आपको अपने जीवन की लगेंगी, इतनी सजीव कि आपसे बोलती सी। आप अब इनसे बात तो कीजिये—

आगरा
स्वतन्त्रता संग्राम-शताब्दी
दिवस
१० मई, १९५७

कहानीकारों की ओर से—

रामगोपालसिंह चौहान।

अनुक्रमणिका

———

पाठकों से

मैं अपने को किसी स्थान से नहीं बाँध सका हूँ, न भौतिक रूप में, न भावना में। इलाहाबाद, बनारस, लखनऊ, काश्मीर, दिल्ली या पञ्जाब, जहाँ भी रहा हूँ, वहीं का होकर रहा हूँ। इसलिए किसी विशेष नगर या प्रदेश के प्रति अन्ध-मोह मेरे अन्दर नहीं पैदा हो सका—यानी किसी स्थान विशेष के प्रति मेरे अन्दर पक्षपात नहीं है। हिन्दुस्तान के किसी भी नगर, ग्राम या प्रदेश में जाकर में ऐसे रह सकता हूँ, जैसे सदा से वहीं का होऊँ। यह कोई विचित्र बात नहीं है, केवल थोड़े अनुभव की बात है। जहाँ भी जाइये, सहृदय लोगों की कमी नहीं है और सांस्कृतिक जागरण के इस युग में हमारे देश में कोई नगर ऐसा नहीं है, जहां साहित्य-प्रेमियों और लेखकों की थोड़ी-बहुत संख्या न हो। इसलिए कहीं भी उपेक्षित या अकेला रहने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी स्थिति में किसी विशेष नगर या प्रदेश के लेखकों के प्रति विशेष लगाव या सौहार्द महसूस करना अक्सर सम्भव नहीं हो पाता। मन में हर उस व्यक्ति के प्रति एक सहज सौहार्द्र का अनुभव होता है, जो साहित्य-प्रेमी या लेखक हो, चाहे वह इस नगर में रहता हो या उस नगर में, इस भाषा का लेखक हो या उस भाषा का। हमारे संयुक्त इतिहास के असंख्य सम्बन्ध-सूत्र हमें एक-दूसरे से बांधते हैं और हमारे इस सुविशाल देश के असंख्य लेखक और साहित्य-प्रेमी भाषा और स्थान-भेद के बावजूद एक ही विशाल परिवार के सदस्य हैं। जब मन की भावना ऐसी हो तो फिर यह कहाँ तक संगत है कि केवल एक नगर—आगरा—के लेखकों, और उनमें से केवल कहानीकारों की रचनाओं का संकलन-सम्पादन करने का कार्य-भार मैंने उठा लिया है ? और उस पर हकीकत यह है कि मैं आगरे में रहता भी नहीं। केवल अपने बाल्यकाल के ही कुछ वर्ष मैंने वहाँ बिताये हैं, नहीं तो, जब से होश संभाला है, आगरे से बाहर ही रहा हूँ और दो-चार वर्षों में कभी दो-चार दिनों के लिए ही वहाँ जाता हूँ। जीवन में प्रत्यक्षत: ऐसी असङ्गत बातें घटित होती रहती हैं, यद्यपि उनमें अकारण कोई भी नहीं होती। तो प्रस्तुत संग्रह में अपना योग देने का कारण यह है कि

आगरा मेरा जन्म-स्थान है। किसी विदेशी के लिए मेरी मातृभूमि चाहे भारतवर्ष हो, लेकिन हिन्दी-पाठकों के लिए तो मेरी मातृभूमि आगरा ही है। इसलिए आगरे के साहित्यिक-बन्धु यदि कहें कि अपनी जन्म-भूमि के प्रति मेरा भी कुछ कर्तव्य है, कुछ दायित्व है तो उस कर्तव्य और दायित्व से मैं इन्कार कैसे कर सकता हूँ ? आगरे के कहानीकारों की कहानियों के इस संग्रह का सम्पादन इस दायित्व की पूर्ति की दिशा में उठाया गया पहला क़दम है। संभव है कि वहाँ के साहित्यिक-बन्धु आगरे के कवियों, नाटककारों या उपन्यासकारों की भी कृतियों के अलग से संग्रह छपाने की योजना बनायें और उसमें अपना योग देने के लिए मुझे आदेश दें और मुझे पुनः किसी न किसी रूप में आपके सामने उपस्थित होना पड़े। मैं इसे अपना सौभाग्य समझूँगा, क्योंकि प्रस्तुत संग्रह जैसी योजनाओं को मैं हिन्दी साहित्य के विकास की दृष्टि से परम उपयोगी मानता हूँ।

इतना तो आप समझ ही गये होंगे कि प्रस्तुत संग्रह की योजना मेरे दिमाग की उपज नहीं है—यह आगरे के साहित्यिक-बन्धुओं की पेशकश का ही परिणाम है। मेरे अनुज प्रो० रामगोपालसिंह चौहान ने आगरे के सभी प्रौढ़ और प्रमुख तथा कुछ नये और अज्ञात कहानीकारों की कहानियों में से चुनाव करके यह संग्रह तैयार किया है और सम्पादन के लिए मुझे दिया है। यह ठीक है कि इस संग्रह में डॉ० रांगेय राघव, अमृतलाल नागर, राजेन्द्र यादव, रावी और घनश्याम अस्थाना जैसे हिन्दी-पाठकों के जाने-पहचाने और लोकप्रिय कथाकारों की प्रसिद्ध कहानियाँ हैं तो साथ ही अनेक अल्प-ज्ञात तथा अज्ञात लेखकों की रचनाएँ भी हैं। लेकिन इससे प्रस्तुत संग्रह के साहित्यिक-मूल्य में कोई विशेष कमी आगयी हो, सो बात नहीं है। प्रत्युत कुछ नये लेखकों की कहानियाँ तो ऐसी हैं जो मन पर गहरा असर छोड जाती हैं—इस सिलसिले में सत्यव्रत मिश्र की कहानी 'शुतुर्मुर्ग का शिकार', राजेन्द्र कुशवाहा की कहानी 'तफ्तीस और रिपोर्ट', राममोहनराय खन्ना की कहानी 'रज़िया महल', राजेन्द्र रघुवंशी की कहानी 'पाताल में संग्राम', रामगोपालसिंह चौहान की कहानी 'या चोरी तेरा ही आसरा' और हरिशरण वर्मा की अत्यन्त प्यारी कहानी 'बेंत की कुर्सी' सभी दृष्टियों से उल्लेखनीय कहानियाँ हैं। इस प्रकार इन बीस कहानियों में से ग्यारह-बारह तो ऐसी हैं जो पठनीय ही नहीं स्मरणीय भी हैं। पाठक हमेशा चाहते हैं कि जिस कहानी-पुस्तक को खरीदें उसमें कम से कम आधी कहानियाँ तो मामूली तौर पर 'अच्छी' और एक-दो कहानियाँ तो निश्चय ही श्रेष्ठ होनी चाहिए। इस दृष्टि से भी यह संग्रह प्रशंसनीय है क्योंकि डॉ० रांगेय-

राघव की 'गदल', अमृतलाल नागर की 'सेठ बाँकेमल' और राजेन्द्र यादव की 'लक्ष्मी क़ैद है' श्रेष्ठ कहानियाँ हैं। 'गदल' को तो कोई भी आलोचक हिन्दी की श्रेष्ठतम कहानियों के संग्रह में रखे विना नहीं रह सकता और चूँकि मेरे साहित्यिक-बन्धु जानते हैं कि किसी बुरी रचना की प्रशंसा वे मुझ से नहीं करा सकते, इसलिए ही शायद उन्होंने मुझे सम्पादक बना कर अपनी साक्षी देने के लिए आपके सामने खड़ा कर दिया है। मेरी साक्षा है कि आप इस संग्रह की श्रेष्ठता के बारे में निश्चिन्त होकर इसे अपना सकते हैं।

इस प्रकार के संग्रहों की उपयोगिता अब स्वीकार की जाने लगी है। 'आधुनिक हिन्दी कहानी' के संग्रहों में भी अक्सर बीस कहानियाँ ही रखी जाती हैं, अर्थात् गुलेरी, प्रेमचन्द, कौशिक से लेकर विष्णुप्रभाकर, राँगेय राघव तक की पीढ़ी के कुल बीस प्रमुख हिन्दी कथाकारों की एक-एक कहानी। आप स्वयं समझ सकते हैं कि हिन्दी-कहानी के समग्र इतिहास में बीस नामों की संख्या कितनी छोटी है। यह तो अनुमेय है ही कि प्रस्तुत संग्रह की अपेक्षा ऐसे सामान्य संग्रहों का साहित्यिक मूल्य अधिक है, क्योंकि उनमें केवल प्रथम कोटि के कहानीकारों की कहानियाँ ही रहती हैं। लेकिन साथ ही यह भी अनुमेय है कि ऐसे संग्रहों में असंख्य दूसरे कहानीकारों का प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता, जो केवल उदीयमान ही नहीं हैं, बल्कि यदा-कदा श्रेष्ठ कहानियाँ भी लिख लेते हैं। लेकिन हर संग्रह की अपनी सीमा होती है, कुछ सीमित पृष्ठों में ही सारी सामग्री का सङ्कलन करना अनिवार्य हो जाता है। ऐसी स्थिति में उन बीस अग्रणी और स्वनाम-धन्य लेखकों के अतिरिक्त यदि अन्य सभी नये और पुराने उल्लेखनीय कथाकारों की एक एक कहानी लेकर कोई संग्रह तैयार किया जाय तो निश्चय ही वह संग्रह हज़ार-दो हज़ार पृष्ठों का बन जायगा, क्योंकि उसमें कई सौ लेखकों की कहानियों को लेना पड़ेगा। यह सब निश्चय ही संभव नहीं है। इसलिए इस कठिनाई से बचने का एक ही उपाय समझ में आता है—वह यह कि हर साहित्यिक केन्द्र के साहित्यिकों की कृतियों के विषय वार संग्रह समय-समय पर प्रकाशित होते रहें। इसमें एक और लाभ है। हर बड़े साहित्यिक-केन्द्र में दस-पाँच ख्यातिनामा लेखकों के अतिरिक्त दर्जनों ऐसे तरुण लेखक भी रहते हैं, उचित प्रोत्साहन के अभाव में जिनकी प्रतिभा को या तो विकास करने का मौक़ा नहीं मिलता या जिनकी प्रतिभा को अभी समूचे हिन्दी जगत में स्वीकृति नहीं मिली है। यदि ऐसे केन्द्रीय-संग्रह अक्सर प्रकाशित होते रहें तो ख्यातिप्राप्त लेखकों की वरद छाया में ये तरुण लेखक भी सब पाठकों के जाने-पहचाने बन जायें। इसका उनके तरुण उत्साही मन

पर कैसा अनुकूल प्रभाव पड़ेगा और उनकी प्रतिभा के विकास में यह कितना बड़ा सहारा साबित होगा, यह बतलाने की ज़रूरत नहीं है।

अन्त में यह सूचित कर देना ज़रूरी है कि इस संग्रह का प्रकाशन लेखकों ने स्वयं अपनी पूँजी से किया है, अर्थात् यह एक सहकारी प्रकाशन है। जिन लेखकों की रचनाएँ इसमें ली गयी हैं, उन्होंने एक निश्चित रक़म देकर इस प्रकाशन को सम्भव बनाया है। यों तो प्रकाशक भी कोई न कोई मिल ही जाता, लेकिन आगरे के लेखक हैं, उनका स्वाभिमान किसी के आगे हाथ पसारना गवारा नहीं करता। इससे भी अनुमान लगा सकते हैं कि इस संग्रह में धोखाधड़ी की कोई गुञ्जाइश नहीं है—यदि रचनाएँ ऐसी न होतीं कि लेखक उन्हें पाठकों तक तुरन्त पहुँचाना अपना कर्तव्य न समझते तो वे अपनी ग़रीब जेब स्वयं न काटते।

मेरी हार्दिक कामना है कि हिन्दी-पाठक इस संग्रह को मुक्त-हृदय से अपनायेंगे।

—शिवदानसिंह चौहान

अमृतलाल नागर

अमृतलाल नागर

जन्म—गोकुलपुरा आगरा, १७ अगस्त १९१६।

अमृतलाल नागर नए हिन्दी-कथा-साहित्य के अलमबरदारों में से हैं और नवीन युग-चेतना की सशक्त साहित्यिक अभिव्यक्ति में अपना सानी नहीं रखते। कला उनकी पारिवारिक विरासत है—खुद भाषा के नायाब शिल्पी और दोनों छोटे भाई रतन और मदन क्रमशः उच्च कोटि के कुशल फोटोग्राफ़र और यशस्वी चित्रकार हैं। निम्न मध्यवर्गीय जीवन—विशेषकर आगरे और लखनऊ—के चित्रण में नागर जी को कमाल हासिल है। "आगरे में मेरी ननिहाल है, ससुराल है और जन्म भी वहीं हुआ। तीन बच्चे भी वहीं पढ़ते हैं। ......वैसे हम तो चौक (लखनऊ) की गलियों पर फ़िदा हैं और 'तसलीम लखनवी' कहाते हैं।"

हास्य व्यंगमयी चुभती हुई शैली और शहरी गली-कूँचों की ठेठ मुहाविरेदार भाषा की पकड़ कोई नागरजी से सीखे।

नागरजी की कुछ प्रमुख रचनाएँ हैं—१–नवाबी मसनद, २–तुलाराम शास्त्री, ३–आदमी, नहीं, नहीं ! (दंगों पर लिखी हुई फेन्टेसी), ४–महाकाल, ५–सेठ बांकेमल, ६–बूँद और समुद्र।

आजकल 'ग़दर' पर नया उपन्याय लिख रहे हैं।

साज्हां बास्साय ने कलेजा कूटा

[श्री अमृतलाल नागर]

आ गए सेठ बाँकेमलजी रोब में। हाथ बढ़ाकर बोले—"अरे दूकानदारी करें हैं ये आजकल के लौंडे। कमटीसन में सालों ने बजार विगाड़ दीना, नई तो म्हाराज आगरा जैसा बास्साई मुलक ऐसा सुसरा गोटे का रुजगार यहाँ होवे था कि सारी दुनिया पुकारे थी कि हाँ भई ब्योपार रुजगार में दमखम है तो अकबराबाद के ही अकबर बास्याय की बसाई हुई नगरी है म्हाराज ये, कि जिसके राज में सूरज नई डूबे था। और बीरबल ऐसा सुसरा उसका दोस्त था कि साले दुनिया भर में अकबर बीरबल होकर रै गए। और आगरा में कुछ रंगत ही तो थी भैयो, जो अकबर ऐसे बास्साय को दिल्ली से खींच के यां ले आई। गोकल बिर्ज की भूमि सुसरी आगरा। साली ऐसी मस्त हवा चले है यां पे, ऐसी घटाएँ छाये हैं और ऐसी सुसरी तरकैट बगीचियाँ हैं, कि अकबर भी म्हाराज बोल उठा कि हाँ भई में सौंन्साय बास्साय हो गया तो क्या, पर ऐसा मुलक तो दुनिया के परदे पर मैंने आँखों से देखाई नहीं था। बिन्ने फौरन कई कि बीरबल अब तो मेरा दिल दिल्ली से फौक्स हो गया। कोई न कोई बन्दो-बस्त करो जल्दी से। बीरबल ने कई कि म्हाराज घबराओ क्यों हो बास्साय सलामत, अभी अकबराबाद बसाए दूँ हूँ। ये कौन सी बड़ी बात है। बस हजूर के हुकम की देर थी। और भयो, तू तो जाने है, बीरबल को सरसतीजी का इस्ट था। बाम्हन तो था ही म्हाराज वो। झटपट जमुना जी में न्हा धोके बिन्ने ध्यान लगाया। परघट हो गई सरसती जी भी फौरन। उन्ने हँस के कई—"बोल क्या माँगे है?" बीरबल ने हाथ जोड़ के कही कि मातेसरी, अकबर बास्साय ने मुझसे आगरा बसाने को कई है और बिन्हों का जी अब दिल्ली से फौक्स हो गया है। और मेरी जुबान से बिनके अगाड़ी निकल गया है कि चालीस दिन में अकबराबाद बसा दूंगा। माता, अब तुम्ही सहाय हो मेरी। नई तो बास्साय आदमी ठैरा वो, जो कौल बचन खाली गया मेरा तो तुम्हारे इस भगत का सिर धरती पे लोट जायगा साला।

सरसती जी ने बीरबल की पीठ पर हाथ धरा भैयो, और बोलीः "अरे, मेरी सरन में आके तू इत्ता खुसकैट हो रह्या है बेटा ? जा बरदान दूं हूँ, तेरा कौल पूरा होगा।" सो भैयो चालीस दिनों में ही ये इत्ता बड़ा सुसरा मुलक, ये लाल पत्थर का किला और जुम्मा महजत सब कुछ बन गया। अकबर बास्साय आए, फौज फाटा आया, और यहीं अकबराबाद बसाते ही लोंडा भी पैदा हो गया एक। जाँगीर बास्साय हुआ म्हाराज। और फिर ताज बीबी का रौजा बना म्हाराज।

ताज बीबी जब मरने को पड़ी भैयो, तौ बिन्ने साज्हाँ बास्साय को बुलवाया और आँखों में आँसू भर के बोली कि प्यारे, मैं तो अब जाऊं हूँ क्या कऊं, जी तो मेरा नई होवे है तुम्हें छोड़ने का—पर ये मौत साली ऐसी खुसकैट होवे है, कि किसी का बस ही नहीं चले है इसके अगाड़ी। इसपे साज्हाँ बास्साय ऐसा रोया कि साले जरीयो-मखमल के बिछौनें भींज गए भैयो। बिन्ने रो रो के कही कि प्यारी रो मती। हाय, तेरी आँखों का सुरमा बहा जाय है। जे कहके बिसे कलेजे से लगा लीना, और कहने लगा कि हाय मेरी बेगम साब, अब मैं किसका म्हों देख के ये सैन्साई बास्साई करूँगा ? मैं भी अपने जिगर में तलवार भोंक के तेरे साथ ही चलूँ हूँ। इसपे ताज बीबी बोली भैयो, कि नई नई ऐसा गजब मती करना। रामजी की दया से हमारे अगाड़ी बेटे बेटियाँ हैं। छोटे छोटे हैं सुसरे अभी, तुम भी नई रओगे तो बिन्हों पे दुश्मन चढ़ाई कर देंगे। तब फिर साज्हां बास्साय ने कही तो फिर कैसे हो ? तुम्हारे बिना तो मैं जी नहीं सकूँ हूँ। ताज बीबी इसपे सोच-साच के बोली भैयौ, कि अच्छा मेरे नाम से तुम ऐसा कोई काम करना जिसमें तुम्हारी तबियत उलझी रैवे। इत्ता कैना था भैयो कि बिसकी आँखें उलटने लगीं। बिन्ने दो बार अल्ला अल्ला करके चोला छोड़ दीना। अब तो साज्हाँ बास्साय भैयो, छातियाँ साली कूट कूट के रोने लगा। और दम दम पे बिसे गस आने लगा भैयो।

खैर, बिन्हें लोगों ने समझाई कि हजूर जे बखत सभी पे पड़े है। आप सरकार साज्हाँ बास्साय होके, सैनसा हो के अपने जी को इत्ता हलका मती करो हजूर। तौ भैयो, राम राम करके साज्हाँ बास्साय ने अपने सीने पे पत्थर धरा और फिर ये सोचने लगे कि मैंने अपनी प्यारी से कौल हारा है तो बिसकी यादगारी में कौन सा एसा काम करूं ? सोचते सोचते जब बिन्ने अपना बड़ा मगज लड़ा दीना भैयो तो जे बात ख्याल में आई कि जैसी गोरी चटक खबसूरत मेरी ताजबीबी थी, वैसेई बिसका रौजा बनवाऊंगा मैं। ज्हाँ पे आज

ताज बीबी का रौजा बना रह्या है, वां पे राजा जैसींग की बगीची थी। विन्ने राजा जी को बुलया के कई कि म्हाराज में अपनी प्यारी का रौजा बनवाने वाला हूँ,...बेगम साब का। तो विसके ताईं मैंने आपकी बगीची की जमीन पसन्द कीनी है।

राजा जैसींग ने कई कि हजूर, जमीन आपका है सौख से ले लो। पर साज्हाँ भैयो वास्साय था। बिस्ने सोची, कि में किसी खुसकैट का ऐसान क्यों लूं? खट्ट देनी वजीर को बुलाया और हुक्म दीना कि वजीर साव, राजा जैसींग की बगीची में एक सिरे से दूसरे तक मोहरों की दरी बिछा दो और जित्ती मौहरें इस जमीन पे बिछै वे सब कीमती के तौर पे राजा जी को देदी जावें।

हुक्म की देरी थी म्हाराज, म्होरें भी बिछ गईं; लाखों करोड़ों आदमी...मजूर कारीगर भी जुट गए; सिगतरास भी आगए और संग-मरमर भी करोड़ों रुपए के खरीद लीना। ताजबीबी का रोजा बनने लगा म्हाराज। फिर विन्ने क्या कीना भैयो कि अपने खजाने से अरबों, खरबों के हीरे जवाहरात निकाल के ताज बीबी के रोजे में जड़वा दीने। वो तो भैयो इन अँगरेजों ने सब खोद के निकाल लीने और काँच जड़वा दीने बिनमें। नई तो म्हाराज सच्चे ही पन्ने की पच्चीकारी हो रई थी। साज्हाँ बास्साय ने मूँछों पे ताव देके कई कि सिवाय आगरे के सैंन्सा साज्हाँ बास्साय के दुनिया में कोई भी बास्याय साला ऐसा दिलीजिगर दिखा जाय, तो विसकी टाँगों के रस्ते से निकल जाऊँ मैं। बड़ा गरीब परवर वास्साय था भैयो, साज्हाँ भी। और ऐसे गऊ आदमी को विसी के लौंडे साले ने कैद कर लीना। मैं तो कऊँ हूँ साज्हाँ बास्साय बड़ा गमखोर था भैयो। नई तो म्हाराज, अगर विसकी जगे पे में साज्हाँ बास्साय होता तो औरंगजेब सुसरे के दो जूते मारता, और कैता कि जावे खुसकैट, तेरे ऐसी सन्तान से में निपूता ही भला, बिस्का आधा म्हों काला कराके और गधे पै सवार कराके स्हैंर से बाहर निकाल देता भैयो, खुसकैट साला। फौक्स कहीं का।...कोच्छ नई, कोच्छ नई, आई योप डैम फूल साला,...ऐसे लौंडे को तो फौरन तोपदम करा देना चइए।

और वो साले जैसींग फैसींग बड़े दोस्त थे साज्हां बास्साय के—साले आँख बन्द करके गैर इंसाफी देखते रये। ऐसी जी में आवे है कि खुस्कैटों को चौराहों पै खड़ा करके बीस जूते लगाए जावें, और ऊपर से हुक्के का पानी पिला कर सालों को तरकैट कर दीना जावे। सोची होगी कि मुसलमान बारसाय को हम क्यों बचाने जाँय, इसमें सालों ने राजपूती हिन्दुआई की सान बघारी

होगी। अरे भैयो, राजपूती की सान तो मैं तबी देखता जब पैलेई मुसलमानों सालों को भारत में घुसने न देते, और जब घुस मिल के बैठ गये, तुम्हारे लौंडे लौंडियों से साती व्यां कर लीने···सब एकमेल हो गए तब फिर क्या रई म्हाराज ?···

जहाँ देखो साला हिन्दू मुसलमानों का दंगा हो रह्या है। वह कहैवे है हिन्दू ने मेरी निवाज बिगाड़ दीनी, वो कैवे है मुसलमान ने मेरी गाय काट डाली। खुसकैट साले ! इन फौक्सों को इत्ती भी तमीज नईं आई कि हम तो आपस में सिर फोड़ रये हैं और अँगरेज साले हमारी छाती पे बैठ के खून पी रये है हमारा। दोनों साले धरम-धरम चिल्लावें हैं, एक को भी पता नई है कि धरम किस चिड़िया का नाम है।

———

नौकरी की तलाश
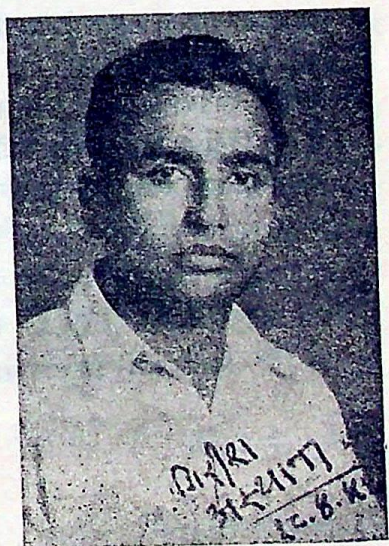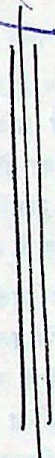
गिरीश अस्थाना

गिरीश अस्थाना

जन्म—२० सितम्बर, १९२०।

"मेरी जन्म तिथि मैट्रिक के सार्टिफिकेट के अनुसार २० सितम्बर १९२० है। पर सुना था पिताजी ने दाखिले के समय स्कूल में आयु दो वर्ष अधिक लिखाई थी, इस विचार से कि जैसे ही लड़का '१८' वर्ष का होगा, 'साहब' से कह कर उसे रेलवे में कहीं 'चिपका' देंगे। रेलवे मुलाजिम उन दिनों अक्सर ऐसा ही किया करते थे। पिताजी रेलवे में तार बाबू थे।"

गिरीशजी खूब घूमे फिरे हुए प्राणी हैं, घाट-घाट का पानी पिए हुए। फौज में वी० सी० ओ० थे। युद्ध काल में करीब ५ वर्ष फौजी नौकरी के दौरान में अधिकतर भारत से बाहर मिस्र, सूडान, आस्ट्रिया, अफ्रीका के पश्चिमी मरुस्थल, फिलिस्तीन और ईराक में रहे; फिर सख्त बीमार पड़ जाने के कारण फौजी नौकरी से अवकाश ग्रहण करना पड़ा। बटवारे के पहिले काफी दिन लाहौर में रहे और वहीं से लिखना शुरू किया। वहाँ की कई प्रमुख उर्दू पत्र-पत्रिकाओं में बराबर उनकी कहानियाँ प्रकाशित होती रहीं। दंगे फसाद के दिनों में कुछ दिनों के लिए कांगड़ा घाटी में पालमपुर रहे और फिर आगरे वापस आगए। इसी दौरान में हिन्दी लिखना शुरू किया और अन्य प्रमुख हिन्दी पत्रों में उनकी कहानियाँ आने लगीं।

एक उपन्यास 'धूल भरे चेहरे' सरस्वती प्रेस इलाहाबाद से अभी जनवरी में निकला है। एक कहानी संग्रह 'क्षितिज' प्रेस में है।

गिरीशजी पिछले तीन-चार वर्षों से दिल्ली में ही रहते हैं।

नौकरी की तलाश

[श्री गिरीश[illegible] अस्थाना]

कालिज के वे दिन अब जब कभी याद आते हैं तो मन में टीस सी उठती है। उन दिनों अपने बड़े ठाठ थे। बदन पर हमेशा 'स्टिफ़' कालर की सफ़ेद बुर्राक क़मीज़ और ताज़ी इस्तरी की हुई क्रीज़दार पतलून रहती। लेक्चर रूम से आती-जाती लड़कियाँ जब तब कनखियों से देख लेतीं। कभी हम मुस्कुरा देते, कभी वे मुस्कुरा देतीं। दोस्ती निभाने के बहाने दो-चार यार-दोस्त भी सदा सिगरेट फूँकने या कभी-कभार सिनेमा का टिकट झपट लेने को हमारे कमरे में मौजूद रहते, या आगे-पीछे फिरा करते। महमूद ने कई बार टोका भी कि ये फ़सली बटेरें आखिर क्यों पाल रखे हैं। लेकिन अपने राम इस कान सुनते और उस कान निकाल देते, क्योंकि मौज की छन रही थी। पिता जी हर महीने मनीआर्डर भेज ही देते थे। हम सोचते एम० ए० पास कर लें फिर देखा जायेगा। पी-एच० डी०, एल-एल० बी० या एम. एड. कर डालेंगे, अभी से क्यों माथा-पच्ची करें।

लेकिन तभी अल्लामियाँ के घर से अचानक पिताजी के नाम पर्वाना आ गया। अपने ऊपर तो जैसे गाज ही गिर पड़ी। यार-दोस्त रस्मी तौर पर एक बार अफ़सोस ज़ाहिर करने आये फिर उन्होंने हमारे कमरे की तरफ़ भूल कर भी मुँह न किया, और जो लड़कियाँ हम पर मुस्कराहटों के फूल बिखेरती थीं, अब हमारे साये से भी कतराने लगीं क्योंकि सबको पता चल गया था कि इसका बाप मर गया है। लेकिन महमूद बेचारा बराबर आता रहा। जब हमने असली गोल्डफ्लेक के खाली टिन में तोता छाप बीड़ियाँ लाकर रखलीं तब भी आता रहा।

हम दोनों सिर से सिर जोड़ कर बैठे और भविष्य के बारे में सोचने लगे।

महमूद बोला, भाई, कुछ भी कहो तुम्हारे वालिद बुजुर्गवार अच्छे मौके पर मरे।

क्या मतलब ? मैंने ज़रा चौंककर, माथे पर बल डालते हुए पूछा।

यही क्या कम है कि इम्तहान का दाखिला भेज चुके हो, उसने कहा। कहीं तुम्हारे पिताजी एक हफ्ते पहले कूच कर जाते तो शायद तुम फ़ीस भी न भर पाते। अब भी अगर मेहनत करो तो शायद फर्स्ट डिवीज़न आ जाय।

मैंने उसकी बात गाँठ बाँध ली। वैसे भी जब-तब माँ की दीन असहाय सूरत और बहनों के पीले ज़र्द चेहरे आँखों के सामने घूम जाते थे।

मैंने पूरा ज़ोर लगा दिया। कमरा बन्द कर वह घोटा लगाया कि कालिज भर में हल्ला हो गया। कोई कहता, फ़र्स्ट डिवीज़न मारेगा, तो कोई कहता दो साल बराबर भाड़ झोंकता रहा है, अब ऐन मौके पर क्या खाक पास होगा। खेर जब परीक्षाफल निकला तो न हमारी फ़र्स्ट डिवीज़न आयी और न हम फेल ही हुए, सेकिण्ड डिवीज़न में पास हुए।

महमूद और हम फिर मन्त्रणा करने बैठे। उसकी प्रतिक्रिया वड़ी निराशाजनक रही। कहने लगा सेकिण्ड क्लास एम. ए. की आजकल कोई क़ीमत नहीं। फ़र्स्ट डिवीज़न आते तो काम बन सकता था।

हमने पूछा, क्या काम बन सकता था ?

किसी कालिज में लेक्चरार-वेक्चरार हो जाते।

और अब ?

अब, बस क्लर्की ! महमूद ने खीसें निपोर दीं।

लेकिन यार हमने कई सेकिण्ड क्लास लेक्चरार देखे हैं, कोई सूरत नहीं निकल सकती क्या ?

निकल सकती है, बशर्ते कोई मिनिस्टर तुम्हें दमाद बना ले।

तुम्हें मज़ाक सूझ रहा है !

मज़ाक कौन कर रहा है भाई। डेमाक्रेसी का ज़माना है।

तो फिर ये योजनाएँ किसके लिये बन रही हैं ? सुना है पाँच साल में बीस लाख नोकरियाँ निकलेंगी।

जनता इस बीच पचास लाख सपूत और नहीं पैदा कर देगी !

हम अवाक रह गये। कुछ देर दोनों चुपचाप खड़े रहे। अचानक महमूद ने पूछा, तुम्हारी उम्र क्या है ?

हमने हिसाब लगाकर बताया--साढ़े तेईस साल।

तो जल्दी करो, वह बोला, अभी डेढ़ साल बाकी है। दौड़-धूप करके कहीं न कहीं चिपक जाओ। अपर डिविज़न, लोअर डिविज़न जैसी भी क्लर्की मिले, कर लो !—और हाँ, एक डवल सोल का जूता अभी खरीद लो--वह

मुस्कराया, उसने घड़ी देखी और चलता बना !

बहुत दिनों बाद एक दिन सड़क पर महमूद से फिर भेंट हुई। सबसे पहले उसकी नज़र मेरे जूतों पर गयी; कहने लगा, डबल सोल है ?

मैंने कहा, हाँ ! आधा घिस भी गया है !

कुछ कामयाबी हुई ?

अभी तक तो कुछ नहीं हुआ, मैंने कहा रोज़ सबेरे नाश्ता करके एम्प्लायमेण्ट एक्स्चेञ्ज पहुँच जाता हूँ। बेकारों की डेढ़ मील मम्बी कतार रोज़ लगती है, और शाम को घर लौट आता हूं। माँ को अपनी मनहूस सूरत दिखाने को जी नहीं चाहता। कभी-कभी तो सोचता हूँ घर लौटने के बजाय जमुना में जाकर कूद पड़ूं !

लाहौल वला कूवत !—महमूद बोला। कूदना ही है तो कुतुबमीनार पर चढ़कर कूदो, या ताजमहल की सुर्री से छलाँग लगाओ ताकि दुनिया यह तो कहे कि कोई कूदा था। लेकिन अच्छा हो, अगर एक दिन पहले चुपके से तुम मुझे इत्तिला कर दो ताकि मैं मछली पकड़ने का जाल लेकर वहाँ पहुँच जाऊँ। तुम्हारा शौक पूरा हो जायेगा और हम दोनों की फ़ोटो अखबार में छप जायेगी ! —चलो अब कुछ चाय-वाय पीली जाय। मेरी जेब में कुछ पैसे हैं ! —और वह मुझे एक रेस्तराँ में घसीट ले गया।

चाय पीते-पीते उसने बताया कि नया साल शुरू होने पर नौकरियाँ जरूर निकलेंगी—हर साल निकलती हैं--इस साल कुछ अधिक ही निकलेंगीं। इसलिए मुझे हिम्मत नहीं हारनी चाहिए ! चाय पी चुकने के बाद उसने बिल चुकाया, घड़ी देखी, मुस्कुराया और चलता बना।

दो महीने बाद की बात है ! उन दिनों हम घर पर ही आराम फ़रमाया करते थे। तंग आकर हमने एक्सचेंज जाना छोड़ दिया था।

एक दिन डाकिया एक छपा हुआ कार्ड पकड़ा गया। देखते ही हम तो उछल पड़े। इण्टरव्यू के लिए हमसे एक दफ़्तर में पहुँचने को कहा गया था ! निश्चित तारीख को निश्चित समय पर हम अच्छी तरह से बन-सँवर कर वहाँ पहुँचे। कुछ और उम्मीदवार भी आये हुए थे। बुलाया हमें दस बजे गया था लेकिन इण्टरव्यू शुरू हुआ दो बजे ! हम लोग बाहर बरामदे में एक बेंच पर बैठे-बैठे सूखते रहे। मेरा तो सिर बुरी तरह दुखने लगा था। उस दिन अन्धड़ भी बेतहाशा चल रहा था। चेहरे पर अच्छी खासी पाउडर की पर्त जम गयी, सोचा नाहक पूरा एक घण्टा सवेरे चिकनपट करने में बर्बाद किया। तभी चपरासी ने अपना नाम पुकारा।

अन्दर घुसते ही साहब ने एक नज़र मुझे देखा और कहा—बैठ जाइये !

कुरसी पर बैठते ही उन्होंने पूछा, आपकी शिक्षा कहाँ तक है ?

जी, एम० ए० पास हूँ !

एम० ए० पास करके आप क्लर्की क्यों करना चाहते हैं ?

क्या करूँ साहब, और कोई काम मिलता ही नहीं !

यानी आपको क्लर्की के काम में कोई दिलचस्पी नहीं है !

जी नहीं, जी नहीं ! मैंने जल्दी से कहा—दिलचस्पी क्यों नहीं है। आखिर इसमें मेरा हित है। सभी अफ़सर बन जायें तो काम कैसे चले ?

हूँ ! साहब गुर्राये !—एम० ए० आपने किस विषय में किया था ?

पोलिटिकल साइन्स में !

आप पॉलिटिक्स में इण्टरेस्टेड हैं ?

हमने सोच-समझ के कहा—जी क़तई नहीं !

तो आपने पॉलिटिक्स में एम० ए० क्यों किया ?

क्योंकि मुझे यह विषय आसान लगा !

लेकिन पॉलिटिक्स में इन्टरेस्ट लेना तो हर नागरिक का फ़र्ज है, साहब ने विद्वत्ता दर्शाते हुए कहा। स्वतन्त्रता की क़ीमत यही है कि सदा जागरूक रहा जाय।

जी हाँ, इतनी दिलचस्पी तो मुझे है !

देखिए ! आप अपनी बात काट रहे हैं। साहब ने ज़रा सख्ती से कहा, फिर मेरे बदहवास चेहरे को देखकर बोले, जान पड़ता है ज्यादा पढ़-पढ़कर आपने अपनी सेहत बिगाड़ ली है।

जी, सेहत तो मेरी ठीक है। आप डाक्टरी मुआइना करा सकते हैं !

साहब मुस्कराये, डाक्टरी मुआइना तो होगा ही, लेकिन इन डाक्टरों की भली चलायी, टी० बी० के मरीज़ों को भी फ़िट करके भेज देते हैं !

जी बात यह है, मैंने ज़रा लजाते हुए कहा, हाल ही में मेरे पिता जी का देहान्त हो गया है। इसका असर मेरे स्वास्थ्य पर बहुत पड़ा है। वैसे मैं भला-चंगा हूँ !

ओह ! साहब ने कहा और कुछ सोचने लगे। मुझे लगा कि यह बात उन्हें अपील कर गयी। मैं धड़कते हुए दिल से उनके मुँह खुलने की राह देखने लगा।

तो आप कब से नौकरी पर आ सकते हैं ? उन्होंने पूछा।

आज से ही आ सकता हूँ जनाब ! मेरा मन खुशी से नाच उठा !

अब आप जा सकते हैं, साहब ने कहा, आपके घर इत्तिला पहुँच जायगी।

हमने घर आकर खुशखबरी सबको सुना दी। माँ तुरंत गली-महल्ले में सबको जता आयीं कि मेरे बेटे की नौकरी बस लगने ही वाली है। लेकिन पन्द्रह दिन बीत गये। रोज़ डाकिये की राह देखते-देखते हमारी आँखें पथरा जातीं। वह आता तो हमारे घर की ओर मुड़े बग़ैर, नाक की सीध में चलता चला जाता। आखिर एक दिन दफ़्तर जाकर पता लगाया तो मालूम हुआ वहाँ तो दूसरे दिन से ही एक आदमी रख लिया गया था।

लेकिन रॉबर्ट ब्रूस और मकड़ी की कहानी हमने पढ़ी थी। हमने भी दृढ़ निश्चय कर लिया कि नौकरी लेकर ही छोड़ेंगे। कुछ और योजनाएँ भी हमने बनायीं। टाइप और शॉर्टहैन्ड सीखना शुरू किया, दो-एक प्रतियोगिताओं में बैठने का निश्चय किया और काग़ज़ी घोड़े भी दौड़ाने लगे। सुबह उठ कर नाश्ता पीछे करते लेकिन अखबार का 'ज़रूरत है' वाला कालम पहले देखते। कभी-कभी तो बड़ी कोफ्त होती। क्योंकि अगर लेक्चरार की जगह होती तो उसके आगे ही लिखा रहता—'सैकेन्ड क्लास एम० ए० आवेदन-पत्र भेजने का कष्ट न करें।' टीचर के लिए बी० टी०, एल० टी० या सी० टी० की पख लगी होती और क्लर्की आदि के लिए फ़तवा होता, 'ज़्यादा पढ़े-लिखे आदमी की ज़रूरत नहीं है।' बड़ी आफत में जान थी। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, हमारी बौखलाहट बढ़ती गयी।

एक दिन एक विश्वस्त सूत्र से ज्ञात हुआ कि किसी महकमे में क्लर्कों और इन्स्पेक्टरों की जगहें निकलने वाली हैं। जगहें भी दो-चार नहीं, तीस-चालीस हैं ! हमने सोचा, इस तरह काम नहीं चलेगा, बहुतेरे धक्के खा लिये। इसलिए हिम्मत करके एक दिन सेक्रेटरी साहब से मुलाकात करने का निश्चय किया। सबेरे ठीक ११ बजे हम उनके दफ्तर पहुँचे, लेकिन चपरासी ने रास्ता रोक दिया। कहने लगा, साहब तीन बजे से पहले किसी से नहीं मिलते !

मैंने कहा, लेकिन उन्होंने मुझे ११ बजे बुलाया है। आप किसी की चिट्ठी लाये हैं ?

हाँ हाँ ! मुझे उनसे निजी काम है उन्होंने मुझे बुलाया है !

अच्छा आप ठहरिये, मैं पता करता हूँ।

दो मिनट बाद चपरासी बाहर निकला। उसने हमारे लिए चिक उठाते हुए कहा—चलिये, साहब बुलाते हैं।

हम अन्दर पहुँचे । साहब मुँह में पान रचाये, बड़े अच्छे मूड में बैठे थे । हमें देखते ही बोले, आइये बैठिये ।

हम कुरसी पर बैठे ही थे कि उन्होंने कहा--कल बैरागीजी का फ़ोन आया था । सब ठीक हो जायेगा । दरख्वास्त तो आपने भेज ही दी होगी ।

जी हाँ भेज दी है । मैं सफेद झूठ बोल गया ।

उनकी चिट्ठी आप मुझे देते जाइये ।

मैंने झूठमूठ अपनी जेब में हाथ डालते हुए कहा--चच् चच् ! चिट्ठी तो मैं घर पर ही भूल आया । आई एम वेरी सॉरी !

कोई बात नहीं, वे बोले, कल लेते आइये ।

हम दरबाजे से बाहर निकले तो एक सज्जन चपरासी से हुज्जत कर रहे थे । उनके हाथ में एक लिफ़ाफ़ा था और कह रहे थे कि बैरागी जी ने उन्हें भेजा है । सुनकर हमारे पेट में पानी हो गया ।

खैर साहब, हमने सोचा अब ओखली में सिर दिया है तो मूसल से क्या डरना । पता लगाना चाहिए, यह बैरागी जी कौन हैं । इनसे अपने बाप के मरने की बात कहेंगे । उन्हें दया आ जाय और वे एक चिट्ठी दे दें, तो काम बन जाय ।

शायद हम आपको पहले बता चुके हैं कि अख़बार देखते समय हम केवल 'जरूरत है' वाला कालम देखते हैं । बाकी पन्नों पर क्या छपा रहता है, इससे हमें कोई सरोकार नहीं रहता । अगर बाकायदा अख़बार पढ़ते तो हमें पता ही होता कि बैरागीजी कौन हैं । हमें उनका पता ठिकाना जानने के लिए टेलीफ़ून डाइरेक्टरी का सहारा लेना पड़ा । और जब उन्हें ढूँढ़ निकाला तो हमारी ऊपर की साँस ऊपर और नीचे की साँस नीचे रह गयी । वे उस महकमे के मिनिस्टर थे ।

बहुत सोच विचार कर निश्चय किया कि किसी तरह उनसे कोठी पर मिलना ही चाहिए । शाम को ही उन्हें फ़ुर्सत होती होगी । दफ्तर में तो वे हरगिज नहीं मिलेंगे । लिहाजा दूसरे दिन शाम के पांच बजे हम जी कड़ा करके उनकी कोठी के पास पहुँचे ।

फाटक पर बन्दूकधारी एक सिपाही खड़ा हुआ था । एकदम आगे बढ़ने की हिम्मत नहीं हुई । कुछ देर इधर-उधर टहलते रहे, फिर कोठी का चक्कर लगाया । पोर्च पर, लान पर बरामदों पर एक नजर डाली और यह अन्दाजा लगाने की कोशिश की मिनिस्टर साहब कौन से हिस्से में उठते बैठते होंगे । कुछ-कुछ अँधेरा हो चला था । तभी एक लम्बी सी हरे रंगकी कार

फाटक के अन्दर जाती दिखायी दी ।

हम एक झाड़ी के पास खड़े-खड़े सोच ही रहे थे कि क्या करें, कि पीछे से दो मजबूत बाहों ने हमें जकड़ लिया । एक दूसरे आदमी ने झटपट बगल से निकल कर हमारी कलाइयों को रस्सी से बाँध दिया । हमारी तो घिग्घी बँध गयी, पसीने छूट गये । कुछ समझ में नहीं आया, मामला क्या है । फिर हमारी जेबों की तलाशी ली गयी ।

हमने कहा—खामखाह आपने हमें क्यों पकड़ा ?

उन्होंने कोई जवाब नहीं दिया ।

आखिर यह क्या मजाक है, हमने दुबारा चीख कर कहा आपने मुझे क्यों पकड़ा है ? मैं कोई चोर हुँ, डाकू हूँ, मैंने खून किया है किसी का ?

उनमें से एक आदमी रुखाई से बोला, आप गिरफ्तार हैं, आपको थाने चलना होगा ।

अब तक हम समझ गये थे कि हम सरकारी गुप्तचरों के चंगुल में हैं । पाँच मिनट बाद एक गाड़ी सामने आकर रुकी और हमें चढ़ा दिया गया ।

थाने पहुँच कर हमारी जो हालत हुई वह शायद ८४ लाख योनियों से गुज़रते समय भी किसी की न होती होगी । एक दिन और दो रातें हमें हवा-लात में बितानी पड़ीं । हमारी तलाशी ली गई । यानी एक कोठरी में ले जाकर हमें अटेनशन करा दिया गया और हमारे सारे कपड़े (जाँघिया तक) उतरवा डाले गये । फिर चाकू, छुरी या किसी गुप्त काग़ज की तलाश में जाँघिये का नेफा तक उघेड़ कर देखा गया । फिर हमारा पता ठिकाना पूछने और खानदान की हिस्ट्री सुनने के बाद हमसे बड़े प्यार से कहा गया कि बरखुरदार अभी कुछ नहीं बिगड़ा है तुम साफ-साफ कबूल कर लो, तुम्हें फिर छोड़ दिया जायगा । आखिर तुम किस इरादे से मिनिस्टर साहब की कोठी का चक्कर लगा रहे थे ?

मैंने कहा कि जनाब, मैं तो एक पढ़ा-लिखा बेकार नौज़वान हूँ, नौकरी की तलाश में साल भर से मारा-मारा फिर रहा हूँ (यहाँ सबूत के तौर पर हमने अपना 'डबल सोल' उन्हें दिखाया जो अब घिस-घिस कर छलनी हो चुका था) कोई सफलता नहीं मिली । मिनिस्टर साहब से अपनी हालत बयान करके सिफारिशी चिट्ठी लेने वहाँ गया था ।

वे अफ़सर जिनके सामने हम पेश थे, बात काट कर बोले—जी हाँ, आप पढ़े-लिखे बेकार नौजवान ही तो सारे उपद्रव की जड़ होते हैं । आपको रात

भर सोचने का मौक़ा दिया जाता है, कल सुबह आपसे फिर मुलाक़ात होगी। इतना कह कर वे कुरसी से उठ खड़े हुए।

मैंने घबड़ाते हुए पूछा—तो रात भर आप मुझे यहीं बन्द रखेंगे?

वे बोले—जीहाँ, जब तक हमारी तसल्ली नहीं हो जाती, आप नहीं छूट सकते! —और वे चलते बने।

इतना ही नहीं, जब हम हवालात में बन्द थे तो जालिम हमारे घर भी पहुँचे और सारा घर उलट कर रख दिया। हमारे सारे कागज और किताबें छान डाली गयीं। नतीजा यह हुआ कि हमारी माँ और बहनों ने सिर धुनना शुरू कर दिया और आनन फ़ानन में यह खबर मुहल्ले भर में फैल गयी कि पुलिस हमें पकड़ ले गयी है। चुनाँचे जब हम हवालात से छूट कर घर पहुँचे तो सारा मुहल्ला हमारे घर के सामने मौजूद था, खूब चेमोगोइयाँ हो रही थीं, और लोग सारस की तरह गर्दनें लम्बी कर करके हमें देख रहे थे।

लेकिन खुफ़िया विभाग की तसल्ली अब भी नहीं हुई थी। हमारे ज़रिये उन्हें शायद किसी घोर अराजकतावादी गुट के पकड़े जानेकी आशा थी, जो कि सरकार का तख्ता उलटने की कोशिश में था।

इसलिये रोज़ एक न एक 'खुफिया' भेस बदल के हमारे घर के आस पास मंडराता रहता था। एक दिन हमने शक मिटाने के लिये अपने घर के पास खड़े एक साधू-बाबा की दाढ़ी के बाल जो पकड़ के खींचे तो नकली दाढ़ी मूछों समेत हमारे हाथ में आगयी और 'बाबाजी' तुरंत भाग खड़े हुए। हम उन्हें पहचान गये। ये वही हज़रत थे जिन्होंने मिनिस्टर साहब की कोठी के सामने हमें आ दबोचा था।

———

आखिरी घूँट

गिरीश रस्तोगी

भर सोचने का मौक़ा दिया जाता है, कल सुबह आपसे फिर मुलाक़ात होगी। इतना कह कर वे कुरसी से उठ खड़े हुए।

मैंने घबड़ाते हुए पूछा—तो रात भर आप मुझे यहीं बन्द रखेंगे?

वे बोले—जीहाँ, जब तक हमारी तसल्ली नहीं हो जाती, आप नहीं छूट सकते! —और वे चलते बने।

इतना ही नहीं, जब हम हवालात में बन्द थे तो जालिम हमारे घर भी पहुँचे और सारा घर उलट कर रख दिया। हमारे सारे कागज और किताबें छान डाली गयीं। नतीजा यह हुआ कि हमारी माँ और बहनों ने सिर धुनना शुरू कर दिया और आनन फ़ानन में यह खबर मुहल्ले भर में फैल गयी कि पुलिस हमें पकड़ ले गयी है। चुनाँचे जब हम हवालात से छूट कर घर पहुँचे तो सारा मुहल्ला हमारे घर के सामने मौजूद था, खूब चेमोगोइयाँ हो रही थीं, और लोग सारस की तरह गर्दनें लम्बी कर करके हमें देख रहे थे।

लेकिन खुफ़िया विभाग की तसल्ली अब भी नहीं हुई थी। हमारे ज़रिये उन्हें शायद किसी घोर अराजकतावादी गुट के पकड़े जानेकी आशा थी, जो कि सरकार का तख्ता उलटने की कोशिश में था।

इसलिये रोज़ एक न एक 'खुफिया' भेस बदल के हमारे घर के आस पास मंडराता रहता था। एक दिन हमने शक मिटाने के लिये अपने घर के पास खड़े एक साधू-बाबा की दाढ़ी के बाल जो पकड़ के खींचे तो नकली दाढ़ी मूछों समेत हमारे हाथ में आगयी और 'बाबाजी' तुरंत भाग खड़े हुए। हम उन्हें पहचान गये। ये वही हज़रत थे जिन्होंने मिनिस्टर साहब की कोठी के सामने हमें आ दबोचा था।

———

आखिरी घूँट

गिरीश रस्तोगी

गिरीश रस्तोगी

जन्म—१५ जुलाई १९३५, बदायूँ ।

गिरीश रस्तोगी एक उदीयमान तरुण कवियित्री और कहानी-लेखिका हैं । आपकी प्रतिभा में एक विकसनशील ठोस साहित्यिक व्यक्तित्व के बीज निहित हैं । आलोचनात्मक निबन्ध भी आपने लिखे हैं जिनमें आपकी दृष्टि बड़ी पैनी, स्पष्ट और सचेत है ।

कवियित्री के रूप में ही गिरीश का साहित्यिक जीवन आरम्भ हुआ । उनकी कविताएँ, कहानियाँ तथा आलोचनाएँ हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में निरन्तर प्रकाशित होती रहती हैं । आपकी कविताओं में एक मीठी टीस भरी उमङ्ग है तो कहानियों में जीवन और परिवार की विषम एवं कटु समस्याओं का यथार्थ चित्रण ।

गिरीश को अभिनय, नृत्य, संगीत और चित्रकारी में भी कौशल प्राप्त है ।

———

आखिरी घूँट

[श्री गिरीश रस्तोगी]

मेरा हाथ कट गया है, मेरा सर फूट गया है और मेरी शक्ल में अब वह खूबसूरती कहाँ रही, वह नौजवानी की चमक कहाँ रही। मैं भी कभी आप की तरह ही जवान था, मेरे अन्दर कशिश थी, शक्ल पर रौनक थी......मेरे अन्दर भी अरमान थे, दिल में जवानी का मीठा-मीठा नशा भरा रहता था......उस खूबसूरत ज़िन्दगी पर गर्द के बादल छा गये हैं।

आज मैं इस कोठरी में पड़ा हूँ, जहाँ अंधेरे की स्याही पुती रहती है...... मेरा दम घुट रहा है, चारों ओर दुर्गन्ध फैली हुई है, यहाँ रोशनी नहीं घुस पाती, हवा नहीं आ पाती। मुझे नहीं मालूम कि कोई चाँद सितारों की बस्ती भी है। सामने पुराना टूटा हुआ मिट्टी का घड़ा अपनी रोनी सूरत बनाये पड़ा है। उस तामचीनी की प्याली का पेट भी पिचक गया है। और इस तीन पाये वाली टूटी खाट को एक तरफ़ से ईंटों से उड़ास देकर रोक दिया गया है। इन दीवारों की मिट्टी सीलन लगकर सड़ रही है, दीमक ने जगह-जगह पर अपना घर बना लिया है। यहाँ की हर चीज़ मेरी उम्र से भी कहीं ज्यादा पुरानी मालूम होती है......मैं अब इस जिन्दगी से ऊब गया हूँ, इस कोठरी की हर चीज़ ही जिन्दगी से ऊब चुकी है......लेकिन यह बुढ़िया अभी जिन्दगी से नहीं ऊबी है, उसे ज़िन्दगी से प्यार है। थक कर भी वह मंज़िल की ओर घसिटती जा रही है। मालूम होता है वह यों ही घसिटती रहेगी, हमेशा......हमेशा ही जब तक कि हमारे सभी साथी एक-एक कर के धरती की गोद में शांति की नींद न सो जायेंगे।......सड़क के उस पार वह होटल है, जहाँ की यादगारें मैं साथ लेकर आया हूँ, जो मेरे अस्तित्व के आखिरी क्षण तक जिन्दा रहेंगे। होटल के सामने वह फुटपाथ बिछी हुई हैं जहाँ यह बुढ़िया जाकर सुबह से ही बैठ जाती है और आने जाने वाले लोगों के आगे हाथ पसार देती है।......

इन जैंनटिलमैन के साथ में कोई बनी सँवारी गुड़िया नहीं है, वह उनकी प्रेमिका है। यह कालिज के छोकरे होटल में गुलछर्रे उड़ाने के लिये जा रहे हैं। और वह हैं युनीवर्सटी में पढने वाली लड़कियाँ, जिनकी पोशाक उनकी क़िताबों से ज्यादा उजली हैं। यह उखड़ी-उखड़ी सूरतों वाले क्लर्क अपने

अपने आफ़िसों की ओर भाग रहे हैं, उन्हें गैरहाज़िरी का डर है। और वह एक किनारे पर चले जा रहे हैं थके माँदे मजदूर जिन्हें आज काम नहीं मिल पाया है। इनकी सुस्त चाल में काम न मिल सकने की थकावट है.......दुनिया चलती फिरती है, सड़क चलने फिरने वालों के लिये बनाई जाती है। लेकिन बुढ़िया यों ही बैठी रहती है, वह चलने फिरने वालों के अन्दर रक्खे दिलों को टटोलती रहती है......बुढिया रोया करती है, दिन में सैंकड़ों बार ही रोया करती है......यही तो उसका पेशा है......उसने रोना ही अपना पेशा बना लिया है। मेरा लड़का मर रहा है, मेरा आदमी बीमार पड़ा है, मेरे पेट में भूख भरी हुई है, फैले हाथ पर पट्ट से आकर कभी-कभी एक तांबे का गोल-गोल सा टुकड़ा गिर पड़ता है। जिसे वह हथेली में रखकर मुट्ठी बाँधकर खूब ज़ोर से मींच लेती, उसकी सूखी हड्डियों पर चढ़े रहे सहे गोश्त में खून की गर्मी दौड़ जाती। थोड़ी ही देर बाद खाली हाथ फिर आगे फैल जाता है। खुशी एक क्षण की खुशी, फिर सिमट कर लोप हो जाती—मेरा लड़का मर रहा है, मेरा आदमी बीमार पड़ा है, मेरे पेट में भूख भरी हुई है।

सड़क पर चलने वालों की आहट कम होने लगी है। कोई रक्शेवाला अपनी वेसुरी आवाज़ में फ़िलमी गाना गा रहा है, गाने का स्वर नहीं बन रहा। गला छः पैसे की काली चाय की प्याली माँग रहा है, कोई ताँगेवाला अपनी मुर्दा आवाज़ में कह रहा है एक सवारी स्टेशन।......यह कोई नौजवान बाबू अब भी पुलिस मैन की तरह सतर्क चाल से, होटल के सामने घूम रहा है, कभी मुड़ कर होटल की ओर देख लेता है। सामने की दुकान पर बैठा पान वाला भी ऊंघ रहा है......ओह......कितनी सिकुड़ी सी रात है.......मेरी तबीयत ऊब रही है, मैं यहाँ से चला जाना चाहता हूँ। यह बुढ़िया न जाने कब तक यों ही बैठी रहेगी। होटल से निकलने वालों के सामने रोने के लिये आँसू बहाती रहेगी।.......वहाँ की झिलमिलाती रोशनी में अभी कुछ आकृतियाँ चमक रही हैं.......ताँबे का गोल-गोल टुकड़ा बुढ़िया को सर्दी भी नहीं लगने देता...

.......मेरी ज़िन्दगी भी एक अजीब ज़िन्दगी है, जिसमें असली ग़मों और नकली खुशियों का डेरा बना रहा है। मैंने भी अपनी जवानी में स्वार्थों की दुनिया बसाई थी। मुझे अफ़सोस हैं, मेरे ख्वाब कितने इन्तजार के बाद पूरे हो पाये थे। इन्तज़ार में मजा है, यह सरासर झूठ है। वह आई थी, उसे आना ही पड़ा था, मेरे प्यार की कशिश उसे खींच लाई थी.......मगर जिस वक्त वह आई थी तब तक मेरी दुनिया धुन्धुली हो चुकी थी, उस पर काली स्याही पुत चुकी थी। मुझे आप से हसद है। मुझे हर उस आदमी से हसद है जिसकी

तमन्नायें पूरी होती रही हैं। अपनी किस्मत पर रंज है। मुझे भी आखिर भगवान ने आपकी सी जवानी क्यों न दी, आपका सा दिल क्यों न दिया। मैं भी कुछ बोल सकता, जबान से प्यार की बातें कह सकता। मैं हमेशा से ही चुप बना रहा हूँ, अपनी तबीयत में घुटता रहा हूँ। आप अपनी प्रेमिका को कवितायें सुना कर खुश करते रहे होंगे, कहानियाँ सुनाकर आकर्षित करते रहे होंगे........लेकिन मैं......मैं हमेशा ही चुप बना रहा, मैं बोल भी कैसे सकता था ? वह इतने इन्तजार के बाद आई जब कि मेरी जवानी का मीठा-मीठा दर्द कड़वाहट में बदल चुका था।

यही वह होटल है जहाँ उसे पहली बार देखा था। उस वक्त उसके गालों का रंग ताज़े टमाटर के छिलके की तरह चमक रहा था, आँखों में एक रहस्य की गहराई थी और चेहरे पर मासूमियत बरस रही थी। उसकी चाल ढाल में बेफ़िक्री थी, अल्हड़ता थी। मैंने उसे ललचाई आंखों से देखा, मेरा दिल काबू के बाहर होने लगा था। उसके पतले-पतले होठों में मधुरता झलक रही थी, उनमें जवानी का रस था। मैं उसे अपनी ओर आकर्षित करने की चेष्टा कर रहा था......मेरे जिस्म में शराब का नशा भर गया था......लेकिन उसने मेरी ओर केवल धीरे उचटती निगाह से देखा और पलकें झुका लीं। शर्म से नहीं नफ़रत से। उसे मुझसे नफ़रत थी, वह सहम सी गई और मासूमियत से अपने साथी की ओर देखा। वह खिलखिला कर हँस पड़ा। उसने उसकी मुलायम अंगुलियों को अपने हाथ में जकड़ लिया। काश कि उसका साथी मैं ही होता। और वह अपने साथी के साथ चली गई, मुझे यों ही अनदेखा छोड़कर......

···और यह मेरी सबसे पुरानी संगिन है, इसका मेरा सम्बन्ध बड़ा ही अनोखा है। बैरा इसे "बड़ी मेम" कहता है। 'बड़ी मेम' के हाथों में उंगलियों की जगह पर कुछ हड्डियाँ जोड़कर सजा दी गई हैं, उनमें बड़े बड़े नाखूनों को लाल रङ्ग से रंग दिया गया है। चेहरे के गड्ढों में सफेद पाउडर भर जाने से बिलकुल ही जवानी की शक्ल बन जाती है। वह मुझसे प्यार करती है, मैं उसका हम दर्द हूँ। मैं उसे प्यार नहीं करता लेकिन फिर भी उसका सब से बड़ा दोस्त हूँ। वह मेरे पास आकर अपनी दास्तानें सुनाया करती है, उसकी दास्तानों में ग़म नहीं है, एक अजीब किस्म का ग़म का मज़ाक है। आज वह उस हालत पर पहुँच चुकी है जबकि किसी के पास रंगीन दिनों की दास्तानें ही बाकी रह जाती हैं। मुझे उससे हमदर्दी है। कभी कभी उसके काले बैग में नोटों के बंडल भी भरे रहते हैं। जिससे मुझे यकीन हो जाता है कि अभी वह

जिन्दगी से थकी नहीं है। अब उसके साथ में लगातार आने वालों की तादाद कम होने लगी है। अब वह नीली वर्दी वाला कप्तान नहीं आता है और नहीं वह सरकारी अफसर जिसकी मूछें बड़ी बड़ी थीं। उन यूनीवर्सिटी वाले लड़कों की जेबों में भी पैसे नहीं बचे हैं। अब मुझे रोज रोज होटल बन्द होने तक रुकना नहीं पड़ता, उसकी दास्तानें अब बहुत लम्बी नहीं होती···

···यह जिन्दगी ही कुछ अजीब सी है, होटल की ज़िन्दगी से मुझे दिलचस्पी है। यहाँ कुढ़न है, मज़ा है, ग़म है और खुशी भी। सभी ग़मज़दा यह बनावटी खुशी बनाये चेहरे मेरे पास आते रहते हैं···वह देखिए उनमें होठों पर पपड़ी पड़ी हुई है जिसे लाल रंग से पोत दिया गया है, जिनमें मादकता और रस बिल्कुल ही लिप्त हो गया है। इनकी मुसकराहट में एक नक्ल है, इनकी चाल ढाल में एक बनावट है। ऊपर से कशिश बनाये हुए हैं जिससे भीतर का राज छुपा रहे। असलियत को उभड़ने से रोक दिया है। चेहरे पर उभरी काली रेखाओं को सफेदी से पोत दिया गया है···

लेकिन वह···उसके होठ ऐसे नहीं हैं। उनके कम्पन में बेचैनी छिपी हुई है। उनका राज़ बनावट से नहीं ढका गया है, कहीं असलियत को भी छुपाया जाता है। उसे चाँद सितारों ने अपनी खूबसूरती देकर पृथ्वी पर भेज दिया है, वह आकाश की देवी है सुनहरे ख्वाबों की रानी। उसकी चाल में बेफिक्री है, आँखों में झिझक है और मुस्कराहट में मीठा मीठा चुम्बन। मैं इसके लबों पर दिल दे बैठता था, उस मुस्कराहट में सो जाना चाहता था। और इसीलिये उससे परिचय कर लेने के लिये बेताब हो उठा था···लेकिन उसने मुझे ठुकरा दिया, मेरी ओर एक बार भर आँख देखा तक नहीं···मेरी प्यास बढ़ती जा रही थी, मेरा नशा बढ़ता जा रहा था।······मैं अपनी पुरानी प्रेमिकाओं को भूल गया उनके होठ एक गुप्त रहस्य से नहीं फड़कते, उनमें कुछ भी रहस्य नहीं है, कुछ भी मधुरता नहीं है, कुछ भी मादकता नहीं है······ वह जाने को तो चली गई लेकिन मेरे दिल में एक आग सुलगा कर छोड़ गई है, जिसमें मैं अब तक जल रहा हूँ। यह मेरी सबसे पहली हार थी, मैं उसे आकर्षित नहीं कर सका।

···अब मुझ में वह जवानी का रंग नहीं रहा, वह खूबसूरती ग़ायब हो गई है। इन्तजार की भी एक हद होती है। उसको एक बार फिर से देख लेने की ख्वाहिश में बैठा हूँ। मैंने कभी भी हार कर भी हार नहीं मानी है······ वह आयेगी इसका शायद मुझे यक़ीन था······

"'''और आज बहुत दिनों के बाद वह वापस आ गई है। वह अकेली है उसके साथ उसका पूराना साथी नहीं है। सचमुच ही उसे मेरा प्यार खींच लाया है। मेरे प्यार की कशिश सत्य है। मुझसे रूठ कर जाने वाली कभी न कभी वापस आती ही हैं''''''फिर वह क्यों न आती''''''लेकिन आज उसके चेहरे पर वह मासूमियत नहीं है, वह शर्म नहीं है, वह झिझक नहीं है जिसकी याद मुझे अभी तक बेचैन किये रहती थी। उसकी चाल ढाल में बड़ी मेम की तरह बनावट आगई है, नकल आ गई है। उसके बाल विखरे नहीं हैं, उनकी बेफिक्री को सभँल कर गूँथ दिया गया है। साड़ी का पल्लू नीचे खसक गया है, जिस्म अधखुला बाहर झाँक रहा है लेकिन वह अपना पल्लू ठीक नहीं कर रही है। बालों में लगा उसका गुलाब का फूल उसके चैहरे का मजाक बना रहा है''''''

''''''मैं धीरे-धीरे मुस्करा रहा था। यह मेरी कामयाबी थी। आखिर मेरी कशिश उसे खींच ही तो लाई। मुझे मुस्कराता देख कर वह झिझकी नहीं, सहमी नहीं। उसे अब मुझसे विल्कुल ही डर न था। वह मेरी आँखों में आँखें डाले घूर रही थी। सामने टेबुल पर बैठे हम दोनों एक दूसरे को देख रहे थे''''''उसने अपनी कलाई की घड़ी की ओर देखा''''''सामने दीवार की घड़ी में पूरे दस वज चुके थे। बाहर रात का अँधेरा फैल चुका होगा लेकिन हमारे होटल में रात नहीं धुस पाती। वह अपनी घड़ी देखती, और कभी मुड़-कर दरवाजे की ओर''''''मैं समझ गया, उसे अपने दोस्त का इन्तजार है। बड़ी मेम भी अपने दोस्तों का यों ही इन्तजार करती थी।

"बेटर"

"जी मेम साहब"

"एक पैग व्हिस्की लाओ"

मैं कांप उठा, मेरा स्वप्न पूरा हो गया था। वह चाँद सितारों की पूरी पूरी कल्पना नहीं थी, वह तो धरती का सत्य है''''''उसने व्हिस्की का आखिरी घूँट गले से उतार लिया''''''अपने हाथ की उँगलियाँ जो अब उतनी लचकदार नहीं रहीं थीं, मेरे हाथ में फँसा दिया'''ओफ'''यही मेरी जिन्दगी का, उस सुहावनी ज़िन्दगी का आखिरी दिन था। मेरे सुनहरी स्वप्नों की दर्दनाक तावीर''''''"वह मेरी बदसूरती को गौर कर रही थी, उसकी भोंहें ऊपर को तन गई, मानो शराब गले में फंस गई हो''''''

"वेटर"

"जी मेम साहब"—वेटर समीप आ गया था ।

यह कितना डर्टी कप है कितना पुराना हो गया है ।

और उसने उसे मेज पर से उठा कर फैंक दिया……ज़मीन पर खन से आवाज हो गई…पुराने प्याले की कीमत ही क्या होती है……

मेरा हाथ कट गया है, मेरा सर फूट गया है और मेरी शक्ल में अब वह खूबसूरती कहाँ रही, वह नौजवानी कहाँ रही……इस कोठरी में मेरा दम घुट रहा है……यह बुढ़िया मुझे यहाँ क्यों उठा लाई है ।

———

रीत

[श्री घनश्याम अस्थाना]

रात के तीन बजे की गाड़ी से बरात लौटी। शाम को छः बजे से रास्ता देखते-देखते यह वक्त हो गया था। बहू के द्वार प्रवेश के लिये उत्सुक चन्दा की आँखें अब झपकने लगी थीं। आँगन में पन्हैड़ी पर रक्खी गैस की लालटेन सूनी-सूनी सी जल रही थी, आरती का थाल वैसा का वैसा ही रखा था, आटे के दियों का घी निवट गया था, बत्तियों की कोरें काली हो चुकी थीं, आँगन में जगह-जगह चावल बिखरे पड़े थे। उसने देखा तमाम लड़कियाँ और आगत महिलायें जहाँ तहाँ झपक गयी हैं। लेकिन फिर भी उसकी आँखों की नींद एक आशा की किरण पाकर जैसे उड़ने सी लगी थीं। सुदूर चौराहे पर रात का सन्नाटा बेध कर एक के बाद एक कई ताँगों के मुड़ने का शब्द हुआ। उसने जङ्गलों में से झाँक कर देखा छायायें-सी दिखाई पड़ीं, फिर एक शब्द—'वह अगली वाली गली—और तांगों के धीमे होने का शब्द। उसकी सांस खुशी के मारे रुकने सी लगी। एक काँपते स्वर में उसने कहा—बरात आगई!

देखते देखते सब सोयी हुई महिलायें जाग उठीं। मलगीजी, सिकुड़ी हुई साड़ियाँ ठीक करने की-सी सरसराहट, बिखरे हुए बालों को ठीक करने का उपक्रम, फिर दरवाजे पर सबसे पहले और सबसे आगे पहुँचने की होड़, एक विचित्र-सा कोलाहल घर में मच गया। यह सब जैसे एक पल में हो गया। जून की वह सुनसान, उमस भरी रात सहसा ही ढोलक के स्वर में उलझ कर जाग-सी उठी। बधाये बजने लगे।

सामने की छजलियों पर तांगों से सामान उतारा जा रहा था। प्रभा की उत्सुकता की सीमा नहीं थी, वह सबसे पहले अपनी भाभी का मुँह देखना चाहती थी। अपनी तीन-चार सहेलियों के साथ वह ताँगे के पास पहुँची। उसने देखा, ताँगे में एक ओर दबी-सी सिकुड़ी-सी वधू बैठी है। 'भाभी!' उसकी आह्लाद पूर्ण उत्सुकता इन दो शब्दों में मुखर हो उठी।

अवनीन्द्र अब तक एक ताँगे से उतर कर एक ओर खड़ा पैन्ट की जेब में हाथ डाले तटस्थ सा सब कुछ देख रहा था। तब तक मेहरी लालटेन ले आयी थी। प्रभा ने एक पल मुस्करा कर अपने दादा को देखा—उसकी काजल

लागे। बड़प्पन से मामी ने आशीर्वाद दिया—खुश रहो ! जयनाथ की बहू चन्दा के पैर लागना भूल गयी। सास ने आँखों से देखा। घुड़की भी दी, मगर वह न समझी। चन्दा ने भी देखा—समझा, मगर बोली कुछ नहीं। उसे लगा, मामी की शह थी।

दोनों बहुएँ कुछ हम उम्र-सी थीं, जल्दी ही घुल मिल गयीं। शकुन्तला सिलक की आसमानी पहने थी और जयनाथ की बहू बनारसी साड़ी। मामी ने देखा, उन्हें लगा कि अवनीन्द्र की बहू की साड़ी ज़्यादा कीमती थी, चन्दा भी जयनाथ की बहू की साड़ी को देख कर कुछ मुस्कान होठों पर ला, बोली—माईं यह साड़ी कौन से फैशन की है ?

मामी का मन कुछ-कुछ भारी हो उठा था, हीनता के भाव से, उपेक्षा दिखा कर बोलीं—क्या बताऊँ चन्दा बीबी, बीस दफा इसे समझाया, जार्जेट की साड़ी जो जयनाथ के बाबाजी ने ला कर दी है पहना कर, मगर, तुम जानो हो बीबी, गधे को धो-धो कर घोड़ा नहीं बनाया जा सकता। गाँव की गवाँर ठहरी शहर वालों की-सी तमीज छू कर भी नहीं गयी।

घूँघट ही घूँघट में जयनाथ की बहू का चेहरा सफेद हो उठा। उसे याद आया कि चलते समय जिद करके इन्होंने ही तो यह साड़ी पहनाई थी··· वह हैरान थी। उसने शकुन्तला को देखा, वह चुपचाप बैठी थी, चन्दा के मुख पर विजय की एक मुस्कान आकर नाच गई, वह पान लगा रही थी।

मामी को लगा जैसे उनकी हार हो गई थी, वह अपने रिश्तेदारों में काफी रईस समझी जाती थीं।

बातें काफ़ी देर तक होती रहीं, मगर मन उखड़ा-उखड़ा सा हो रहा था। हारा-सा चेहरा लिए वह अपने घर लौट गयीं।

वातावरण की घुटन और आशङ्का की नीलिमा को छा देने वाली धूल के धुँधलके की तरह मन को असहमतियों और असङ्गतियों के बावजूद भी नातेदारी की गाड़ी किसी तरह खिच रही थी जैसे कीचड़ और मिट्टी में पहिये धँसते हैं, मगर गति कैसी भी मन्द क्यों न हो, गाड़ी चलती ही रहती है।

× × × ×

चन्दा के मकान के ऊपर वाले कमरे की खिड़कियाँ मामा के ऊपर वाले हिस्से की खिड़कियों के बिल्कुल सामने थीं—दोनों मकानों का अधिकांश भाग एक दूसरे की खिड़कियों से दीखता था। वह ऊपर के कमरे में झाड़ू लगाने गई थी। मामी की आवाज सुनी, किसी पर बुरी तरह चिल्ला रहीं थी। चन्दा के कान खड़े हुए। उसने खिड़की बन्द करदी और कान लगा कर सुनने

लगी। मामी कह रही थीं—गँवार कहीं की···जाने किस गधों के खानदान में जन्म लिया···।

चन्दा को अस्पष्ट सी ध्वनियाँ सुनाई पड़ रही थीं, मगर वह मामी की बदजबानी से भलीभाँति परिचित थी। काफी देर सुनने के बाद उसने खिड़की खोल कर आवाज लगाई—मामी अपनी खिड़की पर आगईं। उनके चेहरे पर अब भी खिसियाहट की सफेदी मौजूद थी, आँखें कुछ-कुछ मिची सी, चन्दा ने पूछा—'क्या होगया माईं।'

'क्या बताऊँ बीबी, ऐसी फूहड़ है कि दूध फाड़ डाला। कल तक मैं औटाती थी, तो बीबी तुम कसम लेलो कि कभी भी जो फटा हो।

चन्दा ने स्वीकृति में सिर हिलाया। मामी की बात चल रही थी—और यह त्यौनारी आई कि आते ही तूफान आगया, रसोई में कभी नमक ज्यादा, कभी दाल नहीं गली, कभी कुछ···कभी कुछ···!

चन्दा ने उनकी बात की हामी भरते हुए कहा—माईं, छोटे मुँह बड़ी बात तो नहीं कहूँ हूँ, मगर जबसे अवनीन्द्र की बहू आई है, मुझे और प्रभा को तो रसोई में भी नहीं जाने देती है···ऐसा अच्छा खाना बनाती है कि तुम उँगलियाँ चाटती रह जाओ! तुम तो कभी आओ ही नहीं हो!

चन्दा ने बनावटी शिकायत की। मामी उनकी बहू की इस प्रशंसा को सुनने के लिए तैयार नहीं थीं, अपनी बात साध कर बोलीं—'सो तो तुम ठीक कहो हो चन्दा। बीबी, वैसे खाना यह भी बुरा नहीं बनाती है, मगर कुछ शऊर नहीं है! और कुछ वात्सल्य लाकर बोलीं—तुम जानो अभी बच्चा है, डाट फटकार करके ही काम ठीक होगा। कभी खुद भी तो घर सँभालना पड़ेगा, बाल-बच्चों का साथ होगा, कैसे क्या करेगी?' भविष्य के कल्पित बच्चों की बात से जैसे उनका मन कुछ भीग गया। चन्दा के मन में कुछ शङ्का लगी। भौंह सिकोड़ कर फुसफुसाहट से पूछा—कुछ है क्या?

उसका मतलब मामी समझ गईं। बात साफ करते हुए कहा—अरे तुम भी ग़ज़ब करती हो बीबी, गौना होके आये दिन ही कितने हुए हैं!

दोनों अपनी-अपनी नासमझियों पर हँस पड़ीं।

भीतर कोई वर्तन गिरने की आवाज़ हुई, मामी उसे देखने चली गईं, चन्दा कमरा बुहारने लगी। झाड़ू के शब्द को बेध कर किसी के रोने का चीत्कार सुनाई पड़ा। वह उठ खड़ी हुई, खिड़की तक गई, मगर दूसरे मकान की खिड़की बन्द हो चुकी थी। कई वर्तन एक साथ गिरने का शब्द फिर हुआ।

वह थोड़ी देर खड़ी रही फिर नीचे चली आई।

× × × ×

अवनीन्द्र की बहू इस बीच में दो-चार दफ़ै मायके हो आई थी, मगर चन्दा ने हर बार प्रभा के बाबूजी से खत डलवाये कि उसको खाना-पीना बहू के बग़ैर अच्छा नहीं लगता। लिहाज़ा जल्दी ही बिदा कर दी जाय। इसलिये शकुन्तला कभी भी अपने घर दस-पाँच दिन से ज्यादा नहीं रह पाई। बाप ने समझा बेटी के बड़े भाग कि सास-ससुर, देवर और ननद, और सबसे ऊपर अवनीन्द्र का इतना प्यार उसे मिला था कि घर उसके विना सूना-सूना सा लगता था। उन्होंने कभी कोई आपत्ति नहीं की।

चन्दा जब-जब ऊपर कमरे में जाती, उसे अपनी मामी की चिल्लाहट या बहू की सिसकियों की घुटी सी आवाज़ हमेशा सुनाई देती थी। वह मन ही मन सोचती—पराये घर की बेटी है, किसी को काहे को उसका दर्द हो। जब वह नहीं आई थी तो माईं बड़ी आस से कहा करतीं—चन्दा बीबी, जयनाथ की शादी करके ही मेरी आँखों को सुख होगा। तभी सबके साथ सोरोंजी की यात्रा को जाऊँगी। बेटे की शादी का पुण्य गंगा नहाने से कम थोड़े ही है। फिर तो दो-दो पुण्य एक साथ लूटूँगी··· । चन्दा सोच रही थी—जयनाथ की शादी को दो साल से ज्यादा होगये, गंगा की बात तो दूर रही इसी दफा बहू मायके से आई, कभी बायना नहीं बँटवाया गया। अवनी की बहू के साथ जब जब भी डलिया आई, बराबर मैंने लड्डू-पूरी सब रिश्तेदारों को बँटवाई है··· वह अपनी तुलना मामी के साथ कर रही थी, उसे लगा कि मामी इस मामले में उससे काफी नीचे धरातल पर खड़ी है···एक आत्मश्लाघा से उसका मन फूल उठता था।

नीचे नल के पास कहारी बैठी चौका-बर्तन कर रही थी। चन्दा पानी लेने गई—दाल का अधैन चढ़ाना था। महरी उसे देख कर बोली—बहू जी, इनके यहाँ तो जब देखो काँय-काँय हुआ करती है। जाने क्या लच्छन दिखाई पड़ रहे हैं! और उसने सना हुआ हाथ मामा के घर की तरफ उठा दिया।

चन्दा ने उत्सुकता से पूछा—क्यों, क्या बात होगई री! उसके स्वर में एक फुसफुसाहट थी और आँखों में आतुरता की चमक। वह दाल की पतीली रखकर वहीं बैठ गई।

महरी ने अपना पटा और नज़दीक सरका लिया और शङ्कित नेत्रों से इधर-उधर देखा। चन्दा ने ताड़ लिया, उसे किसी की उपस्थिति की आशङ्का है। भय दूर करने की ग़रज़ से बोली—अरे यहाँ कौन बैठा है उनके घर कहने

वाला ! और फिर बात पर आते हुए बोली—हाँ तो क्या बात हो गई ?

अपनी छोटी-छोटी आँखों को भरसक फाड़ती हुई धीमे स्वर में महरी बोली—बहू को मार-मार कर ऐसी बुरी हालत करदी है बिन्होंने कि बस··· ! चन्दा को उसी बात की आशङ्का थी कि रोज़-रोज़ के कुहराम का रहस्य क्या हो सकता है ? महरी ने उसी स्वर में अपनी बात जारी रक्खी—अभी उस दिन की बात है, क्या नाम है, तीज की । मैं सबेरे-सबेरे ही काम करने गई । तुम यक़ीन करना मेरा, बहूजी तुम्हारी माईंजी ने बहू की हथेलियाँ पलँग के पाये के नीचे दबा रक्खी थीं और ऊपर पलँग पर कोई सो रहा था । मेरा कलेजा धक् से रह गया ।

चन्दा ने सुना, आश्चर्य से दाँतों तले उँगली दबा ली और फिर विस्मित सी बोली—सच ? उसके मुख पर ऐसा भाव था जैसे विश्वास करना मुश्किल, बल्कि असम्भव हो । महरी ने अपनी बात पर क़सम की मुहर लगा कर उसकी सच्चाई का सबूत दिया । चन्दा बोली—तो रात भर ऐसे ही पड़ी रही ?

महरी ने विश्वासपूर्ण स्वर में उत्तर दिया—मैं तो जानूँ रात भर ही पड़ी रही होगी बिचारी ! एक ठण्डी साँस खींचकर चन्दा ने पतीली उठा ली और उठती हुई बोली—'दुनिया है बहिना ।' 'हाँ सो तो है ही !' और महरी बर्तन धोने लगी ।

× × × ×

चन्दा के घर के सामने ताँगा खड़ा था । मामी ने देखा, प्रभा अपनी भाभी का हाथ पकड़े ला रही थी । अवनीन्द्र बड़ी बहन के लड़के को गोदी में लिये पीछे आ रहा था । सबसे छोटा भाई ताँगे में आगे पहले ही जाकर बैठ गया था । वह बड़े गौर से यह सब देख रही थीं । यकायक चन्दा पर उनकी निगाह जा पड़ी । वह उनकी ही ओर देख रही थी । मामी के लिये बोलना लाज़िमी हो गया नहीं तो चन्दा जाने क्या समझती ! मुख कर भरपूर मुस्कराहट लाकर बोलीं—'कहाँ जा रही हो आज ? सिनेमा !' मैंतो कहीं नहीं जा रही, माईं, ये लोग जा रहे हैं देखने । मैंने सोचा कि बहू ने कुछ नहीं, देखा अभी तक, देख आने दो । घूमना फिरना ही हो जायेगा ।'

सब ताँगे में बैठ चुके थे । अवनीन्द्र से छोटा भाई रवीन्द्र साइकिल पर था । ताँगा चल पड़ा ।

मामी ने चन्दा से कहा सिनेमा गई हैं ? मैं तो जानूँ पन्द्रह बीस रुपये टूट जायेंगे आज ही आज में !

चन्दा ने सुना और एक प्रकार की विरक्ति सी दिखाती हुई बोली—

हाँ सो तो ठीक है, मगर रोज-रोज कौन जाता है, बच्चों की भी ज़िद है, रुपयों का मुँह कौन देखे ?

मामी ने सुना, यह बात उनके ऐसे लगी कि जैसे किसी पत्थर से उनका सिर टकरा गया हो। वह सोचने लगी कि रुपया भी तो बहुत बड़ी चीज़ है, एक दिन में १५—२० रुपये खर्च करने से तो एक दिन दिवाला ही पिट जायगा। उन्हें लगा इतने रुपये एक दम खर्च कर देना उनके बस के बाहर की बात थी।

चन्दा अब भी खड़ी थी। मामी भी उसकी वजह से खड़ी रह गयीं, उनकी निगाहों के सामने कुछ अजीब सूनापन-सा नाच रहा था।

चन्दा उनकी ओर ऐसे देख रही थी जैसे मन की थाह ले रही हो। यकायक मामी प्रकृतिस्थ हुईं। चन्दा बोल उठी—माईं जयनाथ की दुलहिन बहुत दिन से नहीं दिखाई पड़ी, क्या कुछ तबियत खराब है ?

मामी को जैसे किसी ने पिन चुभो दी हो। अनमनेपन की सिकुड़न उनके मुख पर आगई, मगर अपने को सँभाल कर बोलीं—'चन्दा बीवी, उसे बुखार आ गया है। बिचारी को काम भी तो बेहद करना पड़ता है।'

चन्दा ने मुँह से हामी भरी—हाँ माईं, घर-गिरस्ती में तो काम धाम करना ही पड़ता है। वैसे तो हमारे अवनी की बहू भी खूब काम करती है मगर··· ! उनकी बात मामी ने बीच ही में काट दी, बोलीं—बीबी, बदन बदन की भी तो बात है, किसी की तन्दुरुस्ती अच्छी होती है किसी की···! और उन्होंने बाक़ी बात अपने मुँह में ही रखली।

चन्दा की दृष्टि में एक गहरे अविश्वास की चमक उतर आयी। उसे लगा मामी ने बात काफ़ी अच्छी तरह बनाई है।

अवनीन्द्र से छोटा रवीन्द्र था। दोनों की उम्रों में दो-ढाई साल का फ़र्क़ था। रवीन्द्र शकुन्तला का इसलिये कोई लिहाज नहीं करता था। अक्सर शकुन्तला ही उसकी सिगरेट जलाने के लिये नीचे रसोई में से जलता हुआ कोयला या दियासलाई लाती थी। रवीन्द्र चिढ़ाने के लिए भाभी को देखता और बार-बार जलती दियासलाई में फूँक मार दिया करता था, कोयला ज़मीन में फेंक देता। शकुन्तला परेशान हो जाती—रूठने को होती। रवीन्द्र मुस्करा कर कहा करता—भाभी, तुम तो रूठ जाती हो। वह अधिकतर शकुन्तला को देखकर मुस्कराता रहता था, उसे परेशान करता ; परन्तु इसके बावजूद भी उसकी आँखों में झाँकने पर शकुन्तला को एक भय का अनुभव होता, वह काँप जाती। वह रवीन्द्र की दृष्टि से बचना चाहती, उसके सामने पड़ने से डरती

थी, उसे याद आ जाया करता था''''उस दिन रवीन्द्र की तबियत खराब थी। वह कहीं से रात को आया था, ग्यारह बज चुके थे। उसने किवाड़ खोले। मगर जैसे वह किवाड़ के सहारे ही खड़ा था, धड़ाम से मुँह के बल गिर पड़ा था''''और सब पड़े सो रहे थे''''अवनीन्द्र ड्यूटी पर गया था। उसने ही उसे उठाया था''''एक तेज़, तीखी गन्ध उसकी नाक में भर गई थी''''शायद रवीन्द्र पीकर आया था। वह आगे सोचने में काँपती थी, मगर फिर भी न जाने कौन उसकी याद को ढकेलता जा रहा था, वह सोचना नहीं चाहती थी मगर मजबूर सी उसकी स्मृतियाँ अपने आप उसकी आँखों के सामने आ जाती थीं, उसे आगे याद आया। बड़ी मुश्किल में रवीन्द्र को उसने उठाया था''''सारा घर खाना खा चुका था, वही अकेली इन्तज़ार में थी। देवर ने खाना नहीं खाया था'''मगर रवीन्द्र बेहोश सा था—उसे बेहोश सा ही देखा था, उसने पलंग पर ले जाकर उसे लेटा दिया'''घर एक अथाह सूनेपन में डूबा हुआ सा सनसना रहा था'''रवीन्द्र ने भर्राई आवाज़ में कहा था—पानी ! शकुन्तना पानी लेकर उसके पास पहुँची थी। उसके दूसरे हाथ में लालटेन थी। उसने देखा कि रवीन्द्र के माथे पर चोट लग गई है, खून छलक आया था। उसने धीरे से अपनी धोती से रक्त पोछ दिया था। थोड़ी देर तक वह उसके सिरहाने बैठी रही थी काफी नज़दीक, रवीन्द्र ने एक करवट ली और उसका हाथ शकुन्तला के घुटने पर था''''वह काँप उठी थी'''उसने देखा था—रबीन्द्र की आँखें बन्द हैं, उसे लगा वह गहरी नींद में सो रहा था, उसके घाव में फिर हल्की-हल्की लालिमा गहरी होने लगी थी''''शकुन्तला वैसे ही बैठी रही, वह न जाने क्या सोच रही थी। उस समय—यह इस समय उसे याद नहीं आ रहा था''''रवीन्द्र का हाथ उसकी जांघ पर सरक रहा था, वह नीचे का होठ दाँतों में भींचे बैठी रही थी, जैसे एक आवेग फूट पड़ना चाहता हो, उसने पूरी ताकत से रवीन्द्र का हाथ पकड़ कर हटा दिया। उसकी आँखों में क्रोध और बेबसी छटपटा रही थी। उसने देखा रवीन्द्र वैसा ही सो रहा है। शकुन्तला भी सिरहाने बैठे-बैठे ऊँघने लगी थी'''यकायक वह फिर चोंक पड़ी थी, उसे लगा उसके वक्ष पर कोई रेंग रहा है—वह जाग उठी थी, उसने महसूस किया—रवीन्द्र की ही उंगलियां थीं'''उसे लगा जैसे उसके अन्दर से कोई विस्फोट होने को है, वह पूरे जोर से चिल्ला उठना चाहती थी, कुछ बड़े वेग से उसके अन्दर उफन रहा था, जीवन की सारी घृणा एकत्रित होकर क्रोध को वह ज्वालामुखी बनाना चाहती थी, जिसमें न केवल रवीन्द्र जल जाय, बल्कि वह स्वयं भी राख बन जाय; जैसे उसके जीवन की व्यर्थता उसके अनजान में ही पिशाच बन कर इस

अँधेरी रात में ताण्डव कर उठी थी, वह अपने कंठ से एक चीख़ को ज़बरदस्ती रोके थी, वह बार बार तिलमिला उठती थी, उसने रवीन्द्र का हाथ पकड़ कर जोर से पलङ्ग की पट्टी पर पटक दिया और फुसफुसा कर बोल ही उठी— क्या बदतमीजी करते हो लालाजी ! मगर रवीन्द्र नींद में बेखबर सो रहा था, उसे ऐसा ही लगा। बेबसी आँखों में आँसू बन कर रह गई। ज्वालामुखी का लावा आँखों में बह उठा था, वह रवीन्द्र को ऐसे ही छोड़ कर अपने कमरे में आ गई थी, उसे याद नहीं कितनी देर रोई थी। सुबह उठकर उसने दबी जबान से चन्दा से यह बात कही, चन्दा ने गम्भीरता से सुना था, मगर हँसकर टाल दिया—अरी, अभी तो वह बच्चा है ! ये सब बातें वो क्या समझे···! शकुन्तला चुप होकर रह गई। पति से कहने की उसकी हिम्मत नहीं पड़ी। और शकुन्तला उसी दिन से रवीन्द्र से भय खाने लगी थी···वह पछताती थी कि उसने जिसे सोना समझा था—वह केवल प्रतारणा थी, पीतल भी अब स्पष्ट चमकने लगी थी !

चन्दा ने बेटे का पक्ष लिया था, मगर बहू की बात भी उसके कानों में खटक गई थी। उसने देखा था, रवीन्द्र की आँखे सुबह भी लाल थीं, वह शकुन्तला से बेरुखी से बात कर रहा था।

× × ×

शकुन्तला नल के पास नहा रही थी। किवाड़ उसने भेड़ दिये थे। यकायक किसी ने किवाड़ खोले वह चौंक गई, चन्दा ने भीतर घुसते हुए कहा— मैं हूँ दुलहिन, पानी लेने आई हूँ ! शकुन्तला ने गीली धोती पीठ और सिर पर डाल ली; चन्दा ने देख लिया था कुछ लाल-लाल निशान शकुन्तला की पीठ पर था। उसने धोती हटा दी उसकी पीठ से और लोटा वहीं रख कर ग़ौर से देखने लगी। पीठ के बीचों बीच कुछ ऊपर की तरफ रीढ़ की हड्डी पर एक छोटी सी फुड़िया थी। वह एक दम लाल थी, लालिमा आस पास तक बढ़ी हुई थी। कुछ चिंतित स्वर में चन्दा बोली—यह क्या होगया री ? और उसने धीरे से उसे दबाया। एक हल्की सी टीस शकुन्तला के मुंह में से निकल गई। मगर वह चुप थी। चन्दा ने फिर पूछा—दुखता है।

'हाँ !' शकुन्तला ने धीमे स्वर में कहा—ठीक हो जायगी अम्मां जी अपने आप !

चन्दा चली आई। शकुन्तला नहाने लगी।

× × ×

कहारी ने चन्दा को बताया—आज शाम को जयनाथ की बहू मायके जा

रही है। चन्दा ने सुना, कुछ आश्चर्य सा हुआ, बोली—अभी से ? अभी तो सावन के बहुत दिन हैं। महरी ने धीमे स्वर में कहा—अरे, हमेशा के लिये !

चन्दा आसमान से गिरी, 'तो क्या छोड़ रहा है जयनाथ ?' उसने ऐसे सिर हिलाया जैसे यह असम्भव है। मगर शाम को जयनाथ की बहू मायके नहीं गई। उसके घर से कोई लेने नहीं आया था।

चन्दा खिड़की पर आई, मामी धोबी के कपड़े मिला रही थीं, चन्दा को देख कर मुस्कराईं, बोली—'बीबी, कपड़े मिला रही हूँ, बेहद कपड़े धुलनें जाते हैं। अब तुम्हीं देखो, दुलहन की ही अकेली की दस धोतियां घुल कर आई हैं। फिर जयनाथ, उसके बाबू जी, मैं और दोनों लड़के !' चन्दा चुपचाप सुनती रही जंगला पकड़े। मामी कहती ही जा रही थीं—बेहद खर्चा है आज कल, दुलहन की बीमारी में ही डाक्टर का बिल गया कोई मेरे ख्याल से, सत्तर-अस्सी का; रोज़ घर देखने आता था।

चन्दा ने ऐसा मुँह बनाया जैसे याद कर रही हो कि कब डाक्टर आया था—उसे याद नहीं आया ! वह बोली—माईं, जयनाथ की बहू को मायके अभी से क्यों भेज रही हो ? मामी की मुखमुद्रा से जान पड़ा कि वे इस विषय में गहराई में बात करना पसन्द नहीं करतीं, फिर भी चन्दा की बात का जवाब देना जरूरी था इसलिये बोलीं—तुम जानों चन्दा बीबी, बीमारी के बाद विचारी इतनी कमजोर हो गई है कि क्या बताऊँ ? जयनाथ के बाबूजी की राय है, कुछ दिन घर रह आयगी तो सेहत सुधर जायगी, और जयनाथ के इम्तिहान भी आ रहे हैं ! उन्होंने अपने स्वर को और भी धीमा करते हुए कहा—इसके रहते पढ़ाई में कुछ न कुछ हर्जा जरूर होगा। चन्दा ने हमेशा की तरह हामी भरी—कुछ क्या, माईं, खूब होगा !

मगर जड़ की बात महरी बता चुकी थी, हमेशा की तरह इस बार भी अविश्वास उसकी आँखों में झलक आया था। मामी फिर बोलीं—मगर मायके वाले इतने फूहड़ और नालायक हैं कि खत में लिख कर भी नहीं आये। ऐसे लाटसाहब बनते हैं अपने आप को।

दूर पर चन्दा ने देखा, जयनाथ की बहू रसोई में से निकल रही थी। उसकी कोहनी में पट्टी बँधी थी, चाल भी लँगड़ाहट की थी। चन्दा के मन में एक विचित्र प्रकार का कड़वापन तैरने लगा।

मामीं ने एक तीखी दृष्टि से पीछे देखा, बहू की ओर और चन्दा की ओर देखकर बनावटी रूप में हँसकर बोलीं—कमजोर हो गई है बेचारी। बीमारी तो बड़े बड़ों को परास्त कर देती है, फिर वह तो वैसे ही झाल-

पाल··· ! चन्दा चुप-चाप सुनती रही। उसने सुना प्रभा उसे आवाज़ दे रही थी। एक संक्षिप्त-सी विदा लेकर वह चल दी। मामी ने भी स्वीकृति दे दी। खिड़की बन्द होने की भनक उसके कानों में पड़ी।

उस दिन सुबह से ही एक विचित्र प्रकार की हलचल चन्दा के मामा के घर मची हुई थी। चन्दा ने भी देखा ; प्रभा को भेजा देखने कि क्या बात होगयी ? दौड़ती हुई प्रभा आई, भारी से स्वर में मां से बोली—जयनाथ मामा की दुलहन आँगन में गिर पड़ी है, नानी कह रही थीं कि टट्टर का बाँस टूट गया और वह गिर पड़ी—।

चन्दा ने सुना, वह दाल बीन रही थी, शकुन्तला भीतर चौके में चाय छान रही थी, दोनों ही स्तम्भित रह गयीं। दाल की थाली बहू को देकर उसे बीन डालने को आगाह करके वह तेजी से मामा के घर आगई। आँगन में एक जमघट लगा हुआ था महिलाओं का।

मामी एक ओर बैठी हुई थी, दो-चार उनके पास बैठी सारा किस्सा सुन रही थीं, सारे चेहरों पर एक प्रश्न भरी उत्सुकता नाच रही थी। जयनाथ की बहू बीचों-बीच आँगन में पड़ी थी। जयनाथ की ताई की गोद में उसका सिर था। वह बेहोश थी। सिर में एक भींगी हुई पट्टी बँधी थी। चन्दा ने देखा उस दिन देखी हुई कुहनी वाली पट्टी काफ़ी मैली हो चुकी है, कपड़े की इतनी तहें पार करके भी ताजा खून उसमें झलक आया था। शरीर कई जगह से सूज गया था। मामी के मुख पर एक विशेष निश्चिन्तता का भाव था जिसे वह कोशिश करने पर भी दबा नहीं पा रही थी।

यकायक महिलाओं में एक कोलाहल-सा मच गया, डाक्टर आया था। कुछ ने घूंघट खींच कर माथे तक कर लिये, कुछ अधिक नयी होने के कारण किवाड़ों की ओट हो गईं। वृद्धायें वहीं बैठी रहीं।

डाक्टर की फटकार कड़वी होने के बावजूद भी सबको हितकारी लगी, जल्दी से भीतर के कमरे में बिस्तर बिछा कर उसे लिटा दिया गया।

महिलाओं को अधिक कुछ मालूम नहीं हो सका, केवल यही सुनाई पड़ा—भीतरी चोट काफ़ी लगी है और इतना कहकर वह बाहर निकल आया था। जयनाथ के बाबूजी कुछ उदास-सा चेहरा लिये उसके साथ-साथ दरवाजे तक गये थे। चन्दा ने सबकी दृष्टि बचाकर देखा था—मामी ने बड़ी अनिच्छा की मुद्रा बनाते हुए डाक्टर की फीस के रुपये पति को दिये थे।

मजमा धीरे-धीरे घटने लगा। तमाशा खत्म होने लगा था।

एक दिन सुबह उठते ही चन्दा ने महरी से सुना—रात को जयनाथ की बहू मायके चली गई। जयनाथ खुद ही पहुँचाने गया था।

'अभी तो बेचारी की चोटें भी ठीक नहीं हुई होंगीं।' चन्दा ने केवल इतना ही कहा था।

शकुन्तला ने सास को बताया कि उसकी पीठ की फुड़िया में मवाद पड़ गया है। चिन्ता की एक धुंधली सी बदली उसके मन पर छाकर रह गयी। चन्दा ने सोचा कि घी का फाया बाँधने से फूट जायगी, मगर उसे लगा कि उसका मुँह ही नहीं हो पाया है। उसकी चिन्ता बढ़ने लगी। वह विवाद की बदली न हटी, न छटी, वह तो आने वाले काले अँधेरे बादलों की छायामात्र थी। चन्दा की चिन्ता के साथ-साथ फोड़ा भीतर ही भीतर बढ़ने लगा। अब पीठ के और भी विस्तृत भाग में उँगली रखने पर टीस होती थी, जैसे उस छोटे से स्थान में असंख्य व्रण फूट पड़ना चाहते हों। एक दिन डाक्टर ने बताया था कि इसकी फिक्र करनी चाहिये, आगे जाकर धोखा हो सकता है। चन्दा का मन काँप गया था। भय की शीतलता बिजली की सी धारा बनकर उसके शरीर में उतर गयी। उसने डाक्टरी इलाज की ओर से मुँह फेर लिया। देशी इलाज में उसकी बड़ी आस्था थी।

शकुन्तला के लिये पीठ के बल बैठना दूभर हो गया। अवनीन्द्र ने पत्नी को देखा, वह मुरझा-सी गयी थी। उसका मन भारी हो उठा, मगर माँ उसकी देख-भाल करने को हैं तो वह बेबसी महसूस करने लगा था। माँ के सामने कैसे बोले? एक दिन माँ की गैरहाजिरी में अपने एक दोस्त को लाया था, वह मैडीकल में हाउस सर्जन था। डाक्टर मित्र उससे छिपाता नहीं था, इसीलिये साफ-साफ कह गया—कारबंकल होने में कोई कसर नहीं!

अवनीन्द्र ने सुना था, उसकी आँखें पथरा सी गयीं।

वह बेबस सा देखा करता, चन्दा का देशी इलाज जारी था। महरी के कहने से पड़ोस के गाँव से एक स्याना आया था। बहू को दिखाया गया। शकुन्तला मन ही मन काँप उठी थी। बड़ी बेरहमी से उसने उसकी पीठ को जगह-जगह से दबाया था। शकुन्तला बड़े ज़ोर से दहाड़ मार कर रो उठी थी। अवनीन्द्र बैठा था, बेबसी का सूनापन उसकी आँखों में छा उठा था, चन्दा दाँत भींचे सब देख रही थी, वह सोच रही थी, इसके बाद तकलीफ कम हो

जायेगी। मगर स्याना उसी प्रकार अपनी उँगली से पीठ को जगह-जगह से दबाये जा रहा था, अवनीन्द्र से रहा नहीं गया, अपने कण्ठ की आर्द्रता को मुश्किल से रोक कर भर्राये स्वर में बोला—बस, बस हो गया बहुत। अब जो दवा देनी हो दो।

एक पल को स्याना हतप्रभ हुआ, उसने अवनीन्द्र की ओर देखा, उसकी आँखों में विरोध स्पष्ट था। बोला अभी तो काम पूरा नहीं हुआ। चन्दा ने भी अवनीन्द्र को देख कर कहा—जरा सी तकलीफ और सहले, फिर आराम ही आराम है। शकुन्तला ने अवनीन्द्र का हाथ ज़ोर से अपने हाथों में दबा लिया था, वह एक क्रुद्ध दृष्टि स्याने पर डाल कर चुप हो गया। एक बार फिर वह अपने काम में लग गया। शकुन्तला एक बार फिर दहाड़ मार कर चिल्लायी, और बड़ी ज़ोर से अवनीन्द्र का हाथ अपने दाँतों में दबा लिया। अवनीन्द्र को लगा जैसे वह बेहोश सी हो रही थी।

एक ठण्डी सी साँस लेकर स्याने ने कहा—बस, बस हो गया काम। अब भगवान ने चाहा तो जल्दी ही आराम होवेगा। चन्दा की ओर उसने एक पुड़िया डिब्बे में से निकाल कर बढ़ा दी और बोला—रोज़ सबेरे हनूमान बाबा का जाप करके इसका लेप बहू की पीठ पर करना। आगे हरिच्छा। सब नारायन अच्छा ही करेगा।

अवनीन्द्र ने एक गहरे अविश्वास से उसकी ओर देखा चन्दा ने तीन रुपये स्याने को दिये। अवनीन्द्र को जैसे यह सब पसन्द नहीं था।

वह आदमी अगले हफ्ते इसी दिन आने का वादा करके चला गया। अवनीन्द्र के चेहरे पर अब भी विरोध की तमतमाहट मौजूद थी।

चन्दा की आँख खुल गयी, उसे लगा कोई दरवाजा खटखटा रहा है। खटिया से उठ कर नीचे झाँकी, कोई साइकिल लिये खड़ा था। उसने पूछा—कौन है ?

'तार आया है—' और जयनाथ के बाबूजी का नाम लिया—वह यहीं रहते हैं ?

चन्दा ने उसका जवाब न देकर मामी को अवाज दी—माई ! रात का सन्नाटा उसकी पतली आवाज में जैसे प्रतिध्वनित हो उठा। माई···ई··· ! उसे लगा कोई बिस्तर से उठ बैठा है !

घर भर में जगार हो गई थी।

चन्दा के कान उत्सुकता से सजग होगये थे—किसी ने नीचे जाकर तार लिया। यकायक ही मामी के दहाड़ मार कर रोने की आवाज आयी। वह स्तम्भित सी रह गई। चिन्ता से भारी स्वर में उसने चिल्ला कर पूछा—जयनाथ क्या बात है ? कोई बोला नहीं, मामी वैसे ही रो रही थीं—हमारी दुलहन !

चन्दा के कान खड़े हुए। वह फिर चिल्लाई—अरे क्या बात है। जयनाथ का छोटा भाई इस बार सामने पड़ा, चन्दा ने फिर अपनी बात दुहराई, बुझे स्वर में वह कह कर चला गया—भाभी ने जहर खा लिया।

चन्दा आकाश से गिरी। उसे अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ। कैसी अनोखी बात कह गया यह लड़का ! जहर खाना कोई हँसी-खेल है ! वह अपने ही आप कह उठी—ये कैसे हो सकता है।

मगर मामी का रोना काफी सबल प्रमाण इस पक्ष में पेश कर रहा था।

वह नीचे उतर गयी और किवाड़ खोल कर उनके घर जा पहुँची। यहाँ आकर मामी का साथ देने को उसका रोना भी जरूरी हो गया। धीरे-धीरे रोना घट कर सिसकियों तक ही सीमित रह गया। वह एक हिचकी भर लेती और बहू के एक गुण का वर्णन कर दिया करती। सबेरा होते-होते एक बार फिर उनका आँगन आर्तनादों में डूब सा गया। बार-बार बहू की याद करके चन्दा की मामी रो उठती थीं, अधिकांश महिलायें एक दूसरी का मुँह देखतीं और फिर सांत्वना के स्वर में कहतीं—अरे, अब कब तक रोओगी। ये तो उसके भाग थे कि माँग में सिन्दूर लिये गयी। तुम्हारा जयनाथ सलामत चाहिये, बहूओं की क्या कमी ?

मामी सुनती; मगर जहर खाने वाली बात जैसे उन्हें खाये जा रही थी ! दुनिया क्या कहेगी !

× × × ×

शकुन्तला का एक्सरे हुआ था। अवनीन्द्र ने चन्दा को सुनाया—सारी पीठ भीतर ही भीतर खोखली हो चुकी है। मवाद काफी फैल चुका है। उसके स्वर में एक कम्पन था, वह बार-बार कुछ रुक-रुक कर सारी बात बता पाया था।

चन्दा ने सुना। उसका मन एक असीम निराशा के अंधेरे में खो गया। वह निश्चय नहीं कर पायी कि उसे क्या करना चाहिए।

'अब तो जो-भगवान चाहेंगे वही होगा।' उसने यह कह कर मनको समझाने का यत्न किया! वह निश्चेष्ट सी खटिया पर बैठ कर पङ्खा करने लगी। शकुन्तला अस्पताल में ही थी।

शकुन्तला छः महीने से अधिक अस्पताल में रही, हालत दिन पर दिन खराब होती जा रही थी। तङ्ग आकर चन्दा ने घर पर ही बुला लिया। उसे चारों तरफ अँधेरा ही अँधेरा दिखाई पड़ रहा था। एक बार देशी इलाज करवाने की उसकी इच्छा हुई। जाने कौन-कौन बुलाये गए, हर प्रकार के मन्त्र फूँके गये। शकुन्तला को एक दिन जाना ही था। चन्दा का घर एक दिन दुपहर को आर्तनाद से गूँज उठा। अवनीन्द्र गूंगा हो गया था। प्रभा को भाभी का सफेद चेहरा बार-बार चादर हटाकर देखने और फिर ढक कर फफक-फफक कर रो उठने में ही सन्तोष-सा हो रहा था। चन्दा पछाड़ खा-खा कर गिर रही थी। सड़क पर चलने वाले एकाध पल को रुक जाते; उभक कर भीतर की ओर देखते और आसपास वालों से पूछ लेते—गमी हो गयी है? और फिर एक बुझे हुए स्वर में सहानुभूति प्रकट कर चल देते—भगवान की मरजी के आगे किस का बस चला है।

नाई बिरादरी भर में जाकर कह आया था—नन्दकिशोर बाबू के लड़के की बहू गुजर गई है, साऽऽब।

श्मशान यात्रा की तैयारियाँ होने लगीं। सामने बांसों की अर्थी बनते देख कर चन्दा का कलेजा मुँह को आने लगता था, वह पागल सी, शकुन्तला की छाती पर सिर पटक कर कह उठती—अरी ऐसा दगा देना था तो आई ही क्यों थी?

अवनीन्द्र यकायक सिसक कर रो पड़ा। वह भीतर चला गया।

शव के चारों ओर महिलाओं का विशाल जमघट लगा था। आपस में बात चीत चल रही थी, कभी-कभी खानापूरी करने को सिसक भी पड़ती थीं। चन्दा सूनी-सूनी आँखें फाड़ कर सबको देख रही थी, जैसे पूछ उठना चाहती हो—तुम सब यहाँ क्यों आई हो? वह जैसे इस सब पर विश्वास करना नहीं चाहती थी।

चार आदमी अर्थी लेकर अन्दर आये। कुछ देर के लिये रुक गया आँसुओं का वेग, फिर अपनी पूरी ताकत के साथ बह उठा। उस थमे हुए सागर में जैसे फिर एक ज्वार उठा और सब एक साथ ही जोर से रो उठीं। शव बाँधा जा रहा था।

शकुन्तला का शव लेकर लोग चले गये। चन्दा चौखट पर सिर पटकती रह गई, वह अपने ही आप जोर-जोर से प्रलाप कर रही थी, 'उस दिन तो तू हँसती हुई इसमें घुसी थी! मुझे क्या खबर थी कि ऐसी जल्दी मुँह मोड़ जायगी। और अन्य औरतों के सम्भालने के पूर्व ही उसने चौखट पर अपना सिर दे मारा। वह बेहाल हो रही थी। अन्य महिलाओं की आँखों में भी आँसू भरे हुए थे। कुछ बार-बार अपनी आँखें पोंछतीं और बार-बार वे भर आती थीं।

दिन के उस उजाले में भी मातम की काली छाया चन्दा के आँगन में मँडरा रही थी। सबकी पनीली और गीली आँखों में शकुन्तला का प्रतिविम्ब नाच उठता था। कुछ चन्दा को साधे हुये थीं। बरामदे में जहाँ पर उसने दम तोड़ा था, उस स्थान को लीपा गया। महिलाएँ नहाने के लिए रोती-धोती टोली बना कर कुँए की ओर चलीं। सबके बीच में चन्दा अस्तव्यस्त धोती लपेटे गिरती-पड़ती चल रही थी।

शाम तक ही लोग घाट से लौट पाये।

× × × ×

दिन फिसलने लगे। समय की बौछारों में पिछले दिनों में बनाये गए चित्र धुँधले होने लगे। धीरे-धीरे घाव भरने लगा। शकुन्तला की याद भी धुँधली हो चली। सारा काम काज चलने लगा, जैसे कुछ हुआ ही नहीं हो। अवनीन्द्र भी स्टेशन जाने लगा। पिछले तीन हफ्तों में ही वह काफी बदल चुका था। पत्नी की बीमारी के दिनों में चिंता के कारण उसकी आँखों के नीचे जो काले धब्बे पड़ गये थे, वह मिट चले।

एक दिन चन्दा ने रवीन्द्र के द्वारा सुना—भीतर बैठक में कोई वैठा हुआ है, बाबूजी से भाई साहब की शादी के मुताल्लिक बातें कर रहा है।

चन्दा को आश्चर्य नहीं हुआ। वह हिसाब ही भूल गई कि बहू को मरे अभी महीना भर भी नहीं हुआ है। उसके पति ने बताया—वे लोग जल्दी ही शादी कर देना चाहते हैं। हफ्ते भर के अन्दर ही अन्दर।

चन्दा की महरी ने एक दिन मामी के घर जाकर धीरे से कहा—अवनी की शादी ठीक हो गई है। तुम भी जैनाथ भइया की क्यों नहीं कर लेतीं बहूजी?

मामी ने सुना, दिल पर साँप लोट गया। जयनाथ की दूसरी शादी

करने की बड़ी इच्छा थी उनकी, मगर मुहल्ले, बिरादरी में ही नहीं, शायद, दूर-दूर तक बहू के जहर खाने की चर्चा थी। महरी की बात सुन कर एक ठण्डी साँस उन्होंने छोड़ दी और धीरे से बोलीं—अपनी-अपनी मर्जी की बात है महरी ! वैसे यह भी दुनियाँ की रीत है, मगर काम सोच समझ कर करना चाहिए, जिससे दुनियाँ फिर उँगली न उठावे।

उन्होंने देखा—चन्दा के घर मजदूर लग गये थे, मकान पर सफेदी हो रही थी। किवाड़ों पर दुबारा रङ्ग किया जा रहा था।

———

ਅਪਰਾਧੀ

ਤਾਰਕ ਨਾਥ ਬਾਲੀ
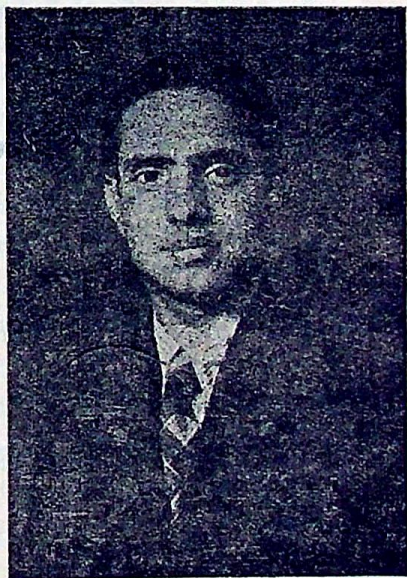
तारकनाथ बाली

जन्म—१७ नवम्बर १९३३, रावलपिण्डी।

बी० एस-सी० करने के पश्चात् साहित्य के प्रति विशेष मोह जगने पर हिन्दी में एम० ए० किया। लिखने की प्रवृत्ति पहिले ही से थी।

साहित्यिक जीवन कहानी लिखने से आरम्भ होता है। कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं। कहानियों का कथानक प्रायः कल्पना प्रसूत होता है पर यथार्थ से विमुख नहीं। कविता-लेखन के प्रति भी रुचि है।

अब तक बालीजी की प्रसाद, पन्त, महादेवी, कबीर आदि पर कई आलोचनात्मक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

इस समय बालीजी आगरा कालेज के हिन्दी-विभाग में लेक्चरर हैं।

———

अपराधी

[श्री तारकनाथ बाली]

सोलह वर्ष बाद मैं बन्दीगृह से बाहर आया मानो सदैव के लिए पाप की शृंखलाओं को दूर-दूर बहुत पीछे छोड़ आया। उसकी भयावह स्मृति की आग को किसी की मधुर प्रीत बुझा सकेगी ऐसा मेरा विश्वास था। उस विश्वास का उन्मीलन उसी क्षण हुआ था जब काली-कोठरी में किसी की अपनी जैसी काली-करनी और उस जैसे स्वर्णिम इतिहास की मधु वृष्टि इस उजड़े मानस में हुई। तभी से यह विश्वास उस काली शिखा के अंचल में प्रति पल पल्लवित होता रहा।

किन्तु जेल से आने के बाद मुझे उसका कोई समाचार प्राप्त न हुआ था। मैं उसे व्यभिचार की शृंखला में बांधकर जिस निराशा के सागर में फेंक आया था, क्या उससे उसका उद्धार हो सका होगा? मन की मोहक दुर्बलता बोली "हां" यथार्थ ज्ञान ने उसका उपहास किया। एक और भी उल्लास था जो न जाने कब से मन के क्षितिज पर घिर रहा था। मैं किसी का पिता बन गया हूँगा। इस काल्पनिक सुख से मैं सिहर उठा। मेरे मन में सन्देह उठा जीवन की यह उजड़ी डाली क्या इस पुष्पित सुख को सहन कर सकेगी?

× × × ×

मैं आज दो वर्ष से उसके पारस की खोज में भटक रहा हूँ जो मेरे पाप को लौहशृंखलाओं को स्नेह के स्वर्णिम बन्धन में बदल दे। कहाँ है मेरा वही मधुमास जो मेरी इच्छाओं की मरु सी डाली को अमृत से नहला देगा? न जाने वह कहीं है भी या नहीं। नहीं-नहीं वह है! अवश्य है!

× × × ×

पूर्ण निराशा की जड़ता के उदय से पहले ही वह पुराना वासना का तूफान लहरा उठा। उसे लाख रोका किन्तु उसमें शक्ति बहती सी दिखाई दी, प्राण उड़ता सा दिखाई दिया। विवश से पाँव बढ़ उठे उस पाप के चमकते बाजार की ओर जिसने मेरे नहीं-नहीं उसके और मेरी बच्ची के जीवन पर अन्धकार का हिम जमा दिया था। उन दोनों की पावन स्मृति के तेज ने ही उस हिम को गलाना आरम्भ कर दिया था। वह गलता रहा, गलता रहा।

किन्तु आज अकस्मात ही फिर गहरा हो उठा। मैंने हृदय में बसने वाली उस तेजोमय मूर्ति को आंखों में उतारा। उससे क्षमा याचना की। जैसे वह मुझे कुछ इशारे कर रही है। मैं उसे समझ न सका। मैं कोठे की काली तंग सीढ़ियों पर चढ़ने लगा।

एक बिजली सी सिहर गई। पहले ऐसी ही सीढ़ियों पर चढ़ता था उसे गालियों की बौछार में छिपाकर। आज मुझे प्रतीत हुआ कि वह मेरे चरणों में लिपटी मेरे साथ-साथ ऊपर खिची चली आरही है। मैं उसे गिराना चाहता हूँ किन्तु वह गिरने की इच्छा भी करके नहीं गिरती। वह ऊपर आने को विवश है। जैसे-जैसे ऊपर जाता था नीचे की सब बातें भूलता जाता था। ऊपर जाकर देखा सुगन्ध के लालची जा चुके थे। मधु का प्यासा कोई आता ही न था। सो मैं जा पहुँचा।

मेरी उसकी आँखें चार हुईं। मैं सिहर उठा--जैसे माल चुराकर भागते हुए चोर को भयंकर विषधर दिखाई दिया हो। वह चौंक उठी—जैसे बहुत दिनों का सोचा जीवन-धन किसी ने देख लिया हो किन्तु उसे प्राप्त न कर सकता हो—उसे अपना भी न कह सकता हो। मन की दुर्बलता ने यह सब ढँक लिया। वह उछल कर शयनागार की ओर लपकी और वासना ने मुझे भी उसी ओर घसीटा।

अन्दर प्रकाश हिलोरें ले रहा था। एक सुन्दर शैय्या पर मुँह छिपाये पास के फूलों की मादक माला सी वह पड़ी थी। मैं उसे पहन लेने के लिए लपका।

वह रो रही थी, सिसक-सिसक कर। मैं स्तभित होगया। और यह तो मेरी निर्मल...मेरी पारस...मेरा मधुमास...। नहीं मेरी नरक की ज्वाला...हृदय का चीत्कार। मेरा सर घूम गया। मुरझाते हुए फूल को सहज ही धूल में मिलाने वाला एक बवंडर उठा। किन्तु फूल धूल में न मिला। संभवत: चिता की राख में जलने के लिए।

जब मुझे होश आया मेरा सर निर्मल की गोद में था। मुरझाते फूल पर किसी ने अमृत छिड़क दिया। वह सँभल कर बोली—

"हत्या के अपराध में तुम्हारे जेल जाने के पश्चात इस गर्भिणी अबला को किसी ने स्वीकार न किया। मैंने निश्चय किया है मैं आत्म-हत्या नहीं करूँगी। क्योंकि यह दुर्बलता की निशानी है। मैंने संघर्ष करने का निश्चय किया किन्तु मैं मजबूर होगई। मैंने अपना सब कुछ खोकर भी तुम्हारा सब कुछ बचा लिया है। तुम्हारे पवित्र प्रेम की सजीव मूर्ति मुन्नी को इस पाप की

रात्रि में रखा अवश्य है किन्तु उसे सुला दिया है--तब तक के लिए जब तक प्रभात सुनहली हँसी नहीं हँसता। अब यह क्षण आया है। तुम इसे लेजाओ कहीं दूर और इस पापिनी को रहने दो यहाँ गलने के लिए।" यह सब वह एक ही स्वाँस में कह गई।

मेरा झुलसा मन चीत्कार कर उठा। मैंने कहा "नहीं निर्मल! तुम्हें मेरे साथ चलना ही होगा। मैं तुम्हें देवी के समान रखूँगा। हमारे जीवन के उद्यान का पुष्प उसे लहराता रहेगा। तुम्हें मैं लेकर ही जाऊँगा।"

वह बोली "तुम अभी तक बिल्कुल वैसे ही हो। तुम नहीं जानते इस स्थान के भी अपने कुछ नियम हैं। इसका अपना एक विधान है। उसे तोड़ना समाज के विधान को तोड़ने की अपेक्षा कहीं अधिक दुष्कर है। एक बार उसे स्वीकार कर लेने पर जीवन उसका उल्लंघन नहीं कर सकता। तुम मुन्नी को लेजाओ। अभी। इसी क्षण। न जाने दूसरे ही क्षण क्या होजाए।"

मैंने कुछ कहना चाहा किन्तु वह साधिकार बोली "अपनी मुन्नी को अभी लेजाओ। उसके जीवन को सुखी बना कर ही हम उऋण हो सकते हैं। मेरे साथ रहने से उसका जीवन बर्बाद हो जाएगा।" मैं निरस्त हो गया।

मुझे पीछे आने का इशारा करते हुए वह कमरे का एक छोटा किवाड़ खोलकर उस ओर चलदी। कुछ कमरे पार करने पर हम एक सीधे-साधे कमरे में पहुँचे जहाँ की वायु में पाप की रुद्धता नहीं शान्ति का आश्वासन था। वहाँ एक ओर एक बालिका सो रही सी। निर्मल उससे बोली ये तुम्हारे पिताजी हैं। तुम आज से इनके साथ रहोगी। इनके साथ रहकर तुम स्वतंत्र रह सकोगी। अभी इनके साथ चलदो।"

लाली ने शीतल दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए कहा "और तुम"

"मैं बाद में आऊँगी" उसने धीमे स्वर में कहा। लाली मेरे साथ उठकर चलने को तैयार हुई। निर्मल ने बहुत सा धन हमारे साथ दिया। मुन्नी निश्चिंत थी क्योंकि उसे विश्वास था कि उसकी माँ भी शीघ्र ही हमारे पास आएगी। किन्तु मेरी दशा बड़ी विचित्र थी। "मैंने अपराध किया था। अब मैं किसी भी मूल्य पर उसे सुधारने के लिए उद्यत था। किन्तु मैं उस अपराध को सुधारने में असमर्थ था, जिसे एक बार कर चुका था। व्यक्ति से भूल होते ही समाज उस पर उस भूल की मोहर लगा देता है। मेरे अपराध ने निर्मल को पीस दिया। न जाने कब तक पुरुष के अपराध से नारी पिसती रहेगी।"

× × × ×

कई दिनों के बाद मैं और मुन्नी निर्मल से सैकड़ों मील दूर एक होटल के सुसज्जित कमरे में बैठे थे। मुन्नी रोज ही अपनी माँ के आने की राह देखा करती थी। मैं उसे यह बता देना चाहता था कि तुम्हारी माँ अब कभी न आएगी। मैं स्वयं निर्मल के विषय में अत्यन्त व्याकुल था। रिक्त हृदय में पलते उसकी स्मृतियों के भयंकर संघर्ष पर पर्दा डाल मैं मुन्नी के जीवन में सुगंध बिखेर देने के लिए प्रयत्नशील था।

इतने में नौकर ने आकर सूचना दी कि एक पुलिस इन्सपैक्टर और उसके दो साथी मुझसे मिलना चाहते हैं। मैं चौंक उठा। नौकर से उन्हें बुला लाने के लिए कहा। दूसरे ही क्षरण इन्स्पैक्टर मेरे पुराने जेलर को साथ लिए भीतर आया। मैं काँप उठा। जेलर ने मेरी ओर इशारा करते हुए कहा "यही है वह जिसकी आपको तलाश थी।" और मुन्नी की ओर इशारा करते हुए वह बोला "यही होगी उस मृत वेश्या की पुत्री।"

मेरा कल्पना का संसार जल रहा था। मैंने उद्विग्नता से पूछा "क्या मेरी निर्मल ने आत्म-हत्या करली है।"

इन्स्पैक्टर कड़का "हाँ तुम ही उसकी हत्या करके उसकी पुत्र। तथा उसके माल को उड़ा लाए हो। तुमने पहले भी एक हत्या की है। तुम्हारा अपराध प्रमाणित हो चुका है! चलो।"

सांकलें
—देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र'
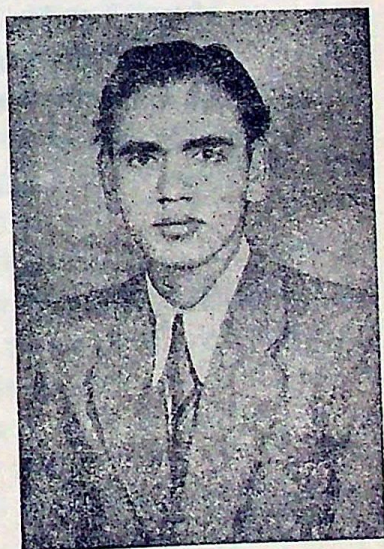
देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र'

जन्म—सन् १९३३ ई०, आगरा।

देवेन्द्र शर्मा एक उदीयमान तरुण कवि और कहानीकार हैं। कवि के रूप में आपकी प्रतिभा अधिक विकासशील है। कहानियों में भी काव्य का प्रभाव आए बिना नहीं रह पाता।

आपकी कहानी और कविताएँ हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं। कविताओं और कहानियों के संग्रह भी प्रकाशित होने वाले हैं। कुछ आलोचनात्मक निबन्ध भी आपने लिखे हैं।

सांकलें

[श्री देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र']

रात के दस बजे हैं। अपने कमरे का बल्ब बुझा कर नीरजा पलङ्ग पर पड़ी-पड़ी सिसक रही है। उसकी बिखरी हुई अलकें गोरे सुन्दर मुखड़े पर फैल जाने से लगता है जैसे शरद के आकाश में चमकते हुए चाँद को बादलों ने घेर लिया हो। कमरे की खुली हुई खिड़की में से दिखाई देने वाले सामने के खेतों में दूर-दूर तक सोये हुए सरसों के पौधों पर गाढ़ा कुहासा एक नीली चादर की तरह फैलता जारहा है। ऊँघता हुआ पीपल जैसे वातारण की निस्तब्धता को अपने में ही समेटे हुये खड़ा है। दूर चौराहे के लाउडस्पीकर से किसी गीत की अस्पष्ट ध्वनियाँ अँधेरे की लहरों पर तैरती हुई, नीरजा के कानों में आ-आ कर कुछ गुनगुना रही हैं, पर उस पर जैसे इस सबका कोई असर ही नहीं पड़ रहा। भीगते हुए आँचल से पोंछने पर उसकी आँखें और-और छलक पड़तीं।

नीरजा के मस्तिष्क में, सोई हुई नदी में थिरकने वाली लहरों के समान अनेक विचार उठ गिर रहे हैं। बार-बार चेष्टा करने पर भी पिछले दिनों की धुँधली यादें और भविष्य की अनागत आशङ्काएँ उसके वर्तमान को विकल किये दे रही हैं। उसकी शिथिल-सी चेतनाओं के सामने एक आकार हर बार बनता है और मिट जाता है जैसे कोई बालक कापी पर सवाल करते-करते उसे अपनी पेंसिल से काट देता है। उसे याद आ रहा है ठीक इन्हीं दिनों तो कभी उसका परिचय नलिन से हुआ था।

परिचय, स्मृति और विस्मृतियों की गति समय की चाल से भी अधिक तीव्र होती है। कभी नलिन के सामने न निकलने वाली नीरजा अब उसके इतने समीप आगई है जैसे कि दोनों में कोई द्वैत नहीं रहा हो। दोनों आपस में इतने घुल मिल गये हैं कि दूर होने की बात तो कभी उनके मन में भी नहीं आ पाती। नलिन का यह रोज-रोज का आना और नीरजा से मिलना-जुलना कभी किसी के मन में सन्देह भी उत्पन्न नहीं करता।

नीरजा की विचार-धारा अपने उसी रूप में बहती जा रही है....। टन्-टन्-टन् करते हुए दीवार की घड़ी ने बारह बजा दिये हैं। घड़ी की आवाज ने विचारों के मूर्छा लोक में पड़ी हुई नीरजा को जैसे चौंका दिया हो। दोनों

सुइयाँ अपनी-अपनी दिशाओं की फेरी लगा कर एक स्थान पर रुक गई हैं। वह सोच रही है……ठीक इसी प्रकार तो नलिन आया था उसकी जीवन-सन्ध्या में आलोक-दीप बनकर।" घने अन्धकार की छाती को चीरती हुई चन्द्रमा की किरणें धीरे-धीरे चारों ओर धरती पर उतर आई थीं। स्वप्नों की गोदी में झूमते हुए सरसों के बसन्ती खेतों की हल्की-हल्की पगडण्डियाँ कुँआरी माँग की भाँति ही झलमला रही थीं, अपनी शुभ्र पावनता में……जो दूर जाकर एक चौड़े रास्ते में मिलकर दृष्टि पथ से ओझल होगई थीं। नीरजा और नलिन की भेंट, साहचर्य्य और विछोह में भी तो कुछ ऐसी ही समता थी। वे दोनों भी तो उन पगडण्डियों की ही भाँति सदा सङ्ग रहे अन बोले…अनसुने …फिर भी एक दूसरे के दुःख सुख में मुरझाते खिलते और रोते मुस्कराते हुए। आकर्षण के मधुर कोमल रेशमी धागों में एक दूसरे के अस्तित्व से बँधे हुए, मिलते हुये से, बिछुड़ते हुए से। जब एक ने कुछ सुनना चाहा है तब दूसरे के बोल सङ्कोच से मौन हो गये। नैनों की नीरव भाषा में से अब तक परस्पर के सम्मोहन और वेदना के महाकाव्य को सर्गबद्ध करते चले आये हैं।

नीरजा इस वर्ष बी० ए० की दूसरी साल में है। जीवन की पहली धड़कन से अब तक उसने सत्रहवें पतझर को सजल विदाई देकर अठारहवें बसन्त का सस्मित स्वागत किया है। अब उसके बोलने और चालने में वह पहला जैसा निःसंकोच रूप नहीं दिखाई पड़ता। घर में कोई भी आए और कोई भी चला जाये—चाहे वह नलिन ही क्यों न हो——अब वह किसी के सामने नहीं आती। नलिन का भी तो इस बीच उसके यहाँ आना प्रायः रुक-सा गया है। जब से उसने लॉ की परीक्षा पास की है तभी से उसने हाईकोर्ट में जाकर प्रैक्टिस शुरू कर दी है। अब की बार वह गणतन्त्र दिवस की छुट्टियों में कोर्ट बन्द हो जाने के कारण अपने घर आया है। उसके पास नीरजा की माँ तथा उसके भाई के इस बीच में नीरजा के विवाह के विषय में अनेक पत्र आते रहे हैं जिनमें नलिन से लेकर और अन्य कई लड़कों तथा प्रौढ़ नौकर पेशेवरों के विषय में वे संकेत करते रहे हैं। हाँ, अलबत्ता नलिन के ऊपर अब वे लोग अधिक जोर इसलिए नहीं डालते कि उसके पिताजी और नीरजा के घर वालों की अनेक बातों में पटरी मेल नहीं खा पाती।

× × × ×

छब्बीस जनवरी की मूक अँधेरी रात दीपमालाओं के स्वर्ण-आलोक में अपने सुनील अञ्चल में सिहरती हुई अजस्र झिलमिलाहट के साथ जैसे मुखर हो उठी हो। नलिन नीरजा के घर की ओर क़दम बढ़ाता चला आ रहा है।

चारों ओर स्वतन्त्रता के उल्लास का एक अजब समाँ बँधा हुआ है। छोटे-छोटे बालकों के हाथों में से बिखरती हुई आतिशबाजी के रंग-विरंगे ज्योतिर्वाही प्रपात, रेडियो से गूँजते हुए 'जन गण मन' के बोल, दिन में अखबार में पढ़ी हुई काश्मीर की समस्या पर दिये गये सुरक्षा परिषद के निर्णय, फुटपाथ पर सोई हुई जनतन्त्र भारत की घिनौंनी बेबस और भूखी आबादी की बुझी-बुझी सी आँखों की मद्धिम चमक और इन सब के बीच में से मध्य वर्ग का प्रबुद्ध चेतन नलिन आज उस नीरजा के जीवन का फैसला करके आ रहा है जिसने उसको बहुत कुछ अपने मन के अनुकूल ही सजाया-सँवारा है, जिसके एक-एक सुकुमार स्वप्न के तिनके चुन-चुनकर उसने उसकी तकदीर की गौरैया के लिए एक घोंसला बनाया है, वही नलिन आज अपने हाथों से नीरजा को समाज के क्रूर हाथों में चिरकाल से रखी हुई थाती की तरह सौंपकर लौट रहा है।

दीपकों का प्रकाश अब भी जाग रहा है। एक चितकबरी बिल्ली सहसा ही उसके सामने से आकर रास्ता काट कर चली गई है। उसके मुहल्ले में रहने वाला अन्धा सूरदास, जिससे लोग गांजे की एक चिलम पिलाकर सिनेमा के भद्दे-से-भद्दे गीतों को चौराहे पर सुन लेते हैं, अपनी घुँघरुओं बँधी लाठी टेकता हुआ अपने घर की ओर चला जा रहा है। सामने वाली दूध की दुकान पर खड़ा एक भिखारी दूकानदार से दूध माँग रहा है जिसकी ओर एक साहब, जो कि अपने टॉमी को रबड़ी खिला रहे हैं, घृणा भरी दृष्टि से घूर रहे हैं। नलिन के मन में अब भी एक तूफान उठ रहा है। उसे अपनी स्थिति पर रह-रह कर आक्रोश हो रहा है पर वह एक पिंजरे में कैद पक्षी की तरह अपनी पंखें फड़फड़ाकर ही समाज की खोखली मान्यताओं की दीवारों से अपना सिर टकरा कर लौट-लौट आता है। वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति के द्वारा इस खोखले-पन को हटा भी तो नहीं सकता······।

नीरजा की जिन्दगी एक दफ्तर के क्लर्क के साथ बाँध दी गई है। नलिन उसके परिवार में सबसे अधिक आने जाने वाला व्यक्ति है इसलिए उससे नीरजा के भाई तथा माँ-बाप ने एक औपचारिक सम्मति माँग ली है। हालांकि वह जानता है कि उसकी स्वीकृति अथवा अस्वीकृति से उनके निर्णय में किसा प्रकार का अन्तर नहीं पड़ सकता। और नीरजा···जैसे उसे इस सबसे सरो-कार ही नहीं हो। वह एक अधजली सिगरेट की ही भाँति अपने भीतर का धुँआँ समेटे जल रही है। जैसे उसके अधरों को एक तेज आलपिन से बन्द कर दिया है ताकि वह कोई विरोध न कर सके। नलिन की धुँधली आँखें उस मुर्झाए हुए फूल की ओर एक बेबस निगाह डालकर खींची हुई रबर की डोरी की तरह

फिर सिकुड़ कर वापस लौट आई है। वह उसे चाहकर भी नहीं पा सकता; क्योंकि उसके पिताजी घोर आदर्शवादी (?) हैं जिनसे यह छिपा नहीं है कि नीरजा के घर में पहले किसी ने पुनर्विवाह कर लिया था और उसी की निशानी नीरजा और उसके अन्य भाई बहिन हैं। उन्हें अपनी पवित्रता पर तो गर्व है किन्तु वे उसके गंगाजल की एक बूँद से भी दूसरों को पवित्र नहीं कर सकते। वे अपने आदर्शों में हिमवान के समान दृढ़ और विशाल हैं परन्तु वे अपनी विशालता में किसी की लघुता को छिपाना नहीं चाहते। नलिन उनके जलते हुए अंगारे जैसे स्वभाव से खेल नहीं सकता—यद्यपि उन्हें समझाने के लिए उस पर तर्क भी बहुत सारे हैं पर वे तो एक उसी जज की भाँति अपने विश्वासों पर तुले हुए हैं जिसको नलिन की वकालत का सारा अनुभव भी टस से मस नहीं कर सकता। अगरचे वह जानता है कि नीरजा, उसके भाई बहिन तथा माता-पिता नैतिकता की कसौटी पर पूरी तरह खरे हैं। और फिर कमल का जन्म भी तो उसी कीचड़ में से होता है जिसे हम छूना भी पसन्द नहीं करते !

नीरजा का घर बहुत पीछे छूट गया है। नलिन के कानों में अब भी उसकी सिसकियाँ पड़ रही हैं। जिन्हें बीच-बीच में उसके भाई और माँ के शब्दों ने तोड़ डाला है। उसे लग रहा है जैसे साँय-साँय करती हुई हवा के झकोरे भी उससे यही कहते हुए चले जा रहे हैं—"लड़का बड़ा सुशील है। थोड़ा उम्र में बड़ा है तो क्या ! घर में कोई भी नहीं है उसके सिवाय पहली पत्नी के छोटे-छोटे तीन बच्चों के। राज करेगी नीरजा अपने घर में। रानी बनकर रहेगी हमारी नीरजा बिटिया।"

रास्ते को जैसे कुहासे की नीलिमा ने लीप दिया हो। सड़क के दोनों ओर की बिजली के बल्वों की रोशनी मद्धिम होती जा रही है। स्वाधीनता दिवस की खुशियों में जलाए गये दीये धीरे-धीरे बुझते जा रहे हैं। नलिन अब सड़क छोड़कर अपने घर की गली में घुस आया है जहाँ एक अधमरा कुत्ता अपनी टूटी हुई टाँग के दर्द से कराह रहा है, और नलिन घर का द्वार खुलने की प्रतीक्षा से खड़ा-खड़ा सोच रहा है "देश स्वाधीन हो गया, हमें राजनैतिक स्वतन्त्रता भी मिल गई पर पुराने थोथे आदर्शों की साँकलों से हमें मुक्ति नहीं मिली।"

कुत्ता अब भी दर्द से कराह रहा था।

— —

इंसान से इंसान की बात

प्रह्लादनारायण मीतल

जन्म—११ जून १९२१।

मीतलजी सन् १९३७ से ही मौन रूप से साहित्य-सेवा करते आ रहे हैं। उसी वर्ष उनकी प्रथम कहानी 'प्रायश्चित' प्रकाशित हुई। अब तक लगभग ५०-६० कहानियाँ और कुछ एकांकी प्रकाशित हो चुके हैं। पारिवारिक परेशानियों और खस्ता स्वास्थ्य के बावजूद वे निरन्तर कुछ-न-कुछ लिखते रहते हैं। उनका नये कहानीकारों में एक विशिष्ट स्थान है और 'ज्ञानोदय', 'धर्मयुग', 'समाज' और 'सरिता' आदि प्रमुख हिन्दी पत्रों के वे स्थायी लेखक हैं।

वे बहुत शर्मीले एवं आत्म-विज्ञापन से दूर हैं। "स्वयं परिचय देने का ऐतिहासिक युग बहुत पीछे छूट चुका है—अपने वंशगत परिचय का।

"आज का चलन है कि दूसरे अपना परिचय दें, तभी परिचितों की श्रेणी में प्रवेश हो सकता है।

"दोनों ही बातें नहीं हो रही हैं मुझसे, मेरा परिचय माँगा जा रहा है—क्या परिचय दूँ? और क्या कोई इस परिचय से सहमत होता है?

"तब जो कुछ आपके सामने है वही परिचय देगा, क्योंकि परिचय की भाषा सदैव बदलती रहती है।"

आज कल आप आगरा इम्प्रूवमेन्ट ट्रस्ट में काम कर रहे हैं।

———

इन्सान से इन्सान की बात

[श्री प्रह्लादनारायण मित्तल]

सुखसदन, ९ जनवरी

पूजनीय,

मैं जानती हूँ, आप नाराज़ हैं। इसीलिए आपने मेरे दो पत्रों का उत्तर नहीं दिया है। क्या करूँ, अपने स्वभाव को? सबको अप्रसन्न कर देती हूँ। रेखा दीदी भी रूठ गई हैं। वे अपने भावना-लोक की विस्मृति सुधि में जी रही हैं। पिताजी दीदी के दुख को लेखर स्वयं में खो गये हैं, अपनी शादी की सारी बातें मुझे ही तय करनी पड़ रही हैं। इसी झंझट में कुछ लिख-पढ़ भी नहीं पाती हूँ। शादी की तारीख निश्चित होने पर लिखूँगी।

कृपया पत्र का उत्तर अवश्य दीजिये। आपकी—प्रतीक्षा

प्रिय प्रतीक्षाजी,

उत्तर आपके दोनों पत्रों के दे चुका हूँ। आपको नहीं मिले तो ज़रूर डाक में गुम हो गये हैं। नाराज हो भी जाये तो यह उसका अपना पागलपन है। किन्तु आपके पत्र का उत्तर दूँ या न दूँ यही बड़ा सोच है।

आपने तो 'सुख-सदन' में बैठे-बैठे 'पूजनीय' की गुरगाँठ मेरे गले में लगा दी। यह नहीं सोचा कि इस बन्धन में मेरी साँस घुटने लगेगी। माथे पर तिलक! कन्धे पर रामनामी! या हाथों में गोमुखी! क्या आपने मेरे पास देखा, जो पूजनीय का भ्रम आपको सता गया? मेरा विश्वास है कि सहन-शक्ति की भाँति ही आप लोगों की अन्तर्दृष्टि भी बहुत पैनी होती है। मेरी अन्तर की कलुषता इस कवच से ढकना चाहती है? परन्तु इतिहास का सत्य है कि समय के प्रहार से कोई कवच अक्षत नहीं रहता। मेरी बात यह है कि अपनी सारी कमजोरियों को लिये हुए मैं एक अत्यन्त साधारण आदमी हूँ।

कृपया यह गुरगाँठ खोल दीजिये। आपके सुखी और सफल जीवन के लिये मेरी हार्दिक शुभ-कामनाएँ! —एक अकिंचन

सुख-सदन,
१, फरवरी, रात के ११ बजे।

पूजनीय,

दिन का समय नये जीवन के सङ्कल्पों-विकल्पों ने छीन लिया है। इसलिए पत्र अभी पूरा कर रही हूँ। रात्रि का यह शान्त प्रहर ही मुझे अपना-सा लगता है—मेरी ही तरह थका और मौन !

आप अपने मुख से अपनी बुराइयाँ कर कौन-सा अभिप्राय सिद्ध करना चाहते हैं ? प्रतीक्षा ने जो दो-चार क्षण आपके सान्निध्य में बिताये हैं, उनसे वह भली-भाँति जानती है कि आप कितने बुरे और कितने अच्छे हैं ! कोई अन्य इस तरह अपनी बुराइयाँ करता तो मैं इसे उसका दम्भ ही समझती, आप मेरे विश्वास के विपरीत नहीं हो सकते।

यह तो खूब रही—अभी शादी-वादी तो कुछ नहीं हुई और आपने सुख और सफल जीवन के लिए शुभ-कामनाएँ अग्रिम ही भेज दीं ! शुभ-कामनाएँ तो आप शादी में आयें, तब ही दीजियेगा। दीदी को तीन जनवरी को खत लिखा था, लेकिन आज तक कोई उत्तर नहीं है। खत तो आलोकजी ने भी कोई नहीं दिया है।

अच्छा, सस्नेह ! पत्र शीघ्र लिखिये। आपकी ही—प्रतीक्षा

आदरणीय प्रतीक्षाजी,

आपके दोनों पत्र और निमन्त्रण मिल गये हैं।

तो आपने गुरगाँठ और भी खींच दी ! आखिर इस पार्थिव शरीर के भीतरी पाषाणत्व को आपने खोज ही निकाला ! आपकी पूजा, अर्चना और श्रद्धा की भावनाओं के आकाश में मुझे कुछ काले बादल नज़र आ रहे हैं। आशङ्का होती है, कहीं मैं सचमुच पाषाण तो नहीं ! क्योंकि आँखें पसार कर और सहज चेतना के माध्यम से जितना देख और समझ पाया हूँ, वह यही कि इस युग में पूजा-अर्चना तो पत्थर की ही होती है। आदमी को आदमी की तरह नहीं पहिचाना जाता। उसकी कमियाँ न तो हमें मान्य हैं और न उनके प्रति हमारा दृष्टिकोण ही उदार है। इसका एक कारण यह भी है कि दूसरे के दोषों की विवेचना करते समय इन्सान की निगाह आप ही आप अपनी ओर उठ जाती है और जिससे बचने के लिये वह शायद इस तरह के कुछ थोथे भाव अपने मन में पाल लेता है। फिर आप तो भावुकता के बन्धन में जकड़ी हुई हैं। नई दुनिया का पहला चरण कुछ रोमाण्टिक सा होता ही है। इसलिये

वह आपके दृष्टि-लक्ष्य से कुछ ओझल हो गया है !

अब इतना ही ।

- पूजा का एक पत्थर ।

सुख-सदन, २२ फरवरी,

पूजनीय,

प्रतीक्षा में आँखें दुखने लगीं, तब कहीं आपका पत्र मिला । मुझे काँटों में क्यों घसीट रहे हैं ? मैं 'आदरणीया' कब से बनी आपके लिये ? क्या बदला ले रहे हैं ? आप कुछ भी कहें, आप तो पूज्य और श्रद्धेय ही हैं ! आपने क्या कुछ नहीं किया मेरे लिये ! उस ऋण से कभी मुक्त हो सकता है कोई ! ऋणी, चिर ऋणी रहूँगी मैं तो !

यह आप अपने को क्या लिखा करते हैं—कभी 'अकिंचन' कभी पूजा का पत्थर' ! मुझे तो यह सब अच्छा नहीं लगता । मेरी दृष्टि-लक्ष्य से क्या छूट गया है, मैं सचमुच समझ नहीं सकी । पत्र के साथ मेरा नया फोटो है । आप कौन-सी तारीख़ को आ रहे हैं ? दीदी का कोई खत आया है क्या आपके पास ? आलोकजी आजकल कहाँ हैं ? आना आपको अवश्य है, वरना फिर वही कसम दूँगी........

पत्र तुरन्त दीजिये । सस्नेह,

—आपकी वही प्रतीक्षा

परम पूजनीया प्रतीक्षाजी,

इधर तबीयत कुछ खराब चल रही थी, इसलिये जवाब देर से दे रहा हूँ । वैसे आर्थिक रूप से भी, प्रत्येक सप्ताह किसी को पत्र लिख सकूँ, इतना समर्थ नहीं हूँ ।

एक इन्सान (मैं देवता की बात नहीं कह रहा) के लिये इससे बड़ी सजा क्या हो सकती है कि एक का ऋण दूसरे के लिये भार बन जाय । ऋण, ऋण ही है, चाहे अर्थ का हो, चाहे दया, ममता, स्नेह या सहानुभूति का । इससे यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि हम अलग-अलग इकाइयाँ हैं । मैं चाहता था कि हम जब भी मिलें एक समान स्तर पर । परन्तु मैं अपने को सदैव बहुत नीचा पाता हूँ—जब नीचा होता हूँ तब यथार्थ सत्य का अवलोकन कर और जब ऊपर होता हूँ, तो प्रतिपल नीचे गिर जाने की आशङ्का के कारण । किन्तु आप अभी श्रद्धा के बिन्दु के शून्य को नहीं पहचानतीं, बस यों लीजिये कि यह आवरण जब तक नहीं उठता है, तभी तक........

सहारा तो आदमी दीवार का भी लेता है, आकाश का भी वह मोहताज है और पैर के नीचे की ज़मीन का भी चिर ऋणी। किन्तु, क्या इस ऋण का कोई आभार मानता है ? परन्तु क्यों नहीं ! फिर आदमी का सहारा ऐसा क्या भार है जो इसी तरह सहन नहीं कर लिया जाता। क्षमा कीजिये, मुझे इसमें आस्था की कमी जान पड़ती है और यह एक ऐसा लोकाचार है जो अत्यन्त सीमित और अत्यन्त क्षणिक है।

उस दिन आप हँसी थीं कि मैं आपको 'बहिन' क्यों नहीं मान सकता ? इसलिये कि आदमी-आदमी की पहचान का यह बैरोमीटर बहुत ग़लत है ! भावना की पवित्रता के ढकोसले में मेरी कोई आस्था नहीं है। प्रकृति का दिया हुआ हमारा आपका (सभी का) एक सनातन सम्बन्ध है। हम एक झूठा रिश्ता क्यों कायम करें ? आपने कहा—प्रत्येक युवती प्रत्येक युवक की प्रेयसी नहीं हो सकती, और न नारी, पत्नी ! बात ठीक है, इसी भावना को यों भी व्यक्त किया जा सकता है कि प्रत्येक युवती प्रत्येक युवक की भगिनी नहीं हो सकती, और न नारी, मा ! लक्ष्मण-रेखा मर्यादा की सीमा नहीं है, वह भय और आशङ्का की प्रतीक है—मर्यादा में किसी नैतिक भावना का उद्‌बोधन ! नारी-पुरुष को लेकर सन्देह और अविश्वास की कल्पना से अधिक अनैतिक और क्या होगा ? मैं मित्र-भाव से ही किसी को अपना कह सकता हूँ—इससे अधिक मेरे बस के बाहर है।

पूज्य से पूजक श्रेष्ठ हैं क्योंकि जड़ से चेतन की श्रेष्ठता स्वयंसिद्ध है, इसलिये आपकी श्रद्धा-भावना आपको ही लौटा दिया करूँ यही युक्ति-युक्त जँचा। डर केवल इतना ही है कि किसी दिन आप अनायास अपनी श्रद्धा भी न समेट लें !

शादी में तो शायद नहीं आ सकूँगा। कहना ही पड़ेगा—चित्र आपका आप से भी अधिक सजीव है।

—पत्थर का देवता

सुख-सदन,
७ मार्च, रात के दस बजे

पूजनीय,

शाम की डाक से आपका पत्र मिला, पढ़कर मन प्रफुल्ल नहीं हुआ, शायद मेरा भाग्य ही खोटा है। मा नहीं, पिता विरक्त और दीदी का मन मर चुका है। मैं ही अकेली क्यों जी रही हूँ ! सब ओर से तिरस्कृत और स्नेह-हीना ! आलोकजी ने भी यही सूचित किया है कि वे नहीं आ रहे हैं। अच्छी

बात है ! न आवें कोई । सुहाग की माँग नहीं भरी जायगी तो शायद मेरी मुक्ति नहीं होगी । अब मैं ही जाकर कहूंगी—ओ ! मेरे इस जीवन के प्राप्य और उस जीवन के खेवनहार ! मुझे उबार ! मेरा हाथ पकड़········ !

मैं किसी की कौन हूँ ? मेरी बात कोई क्यों मानेगा ? दीदी को ही लिखूँगी—उसके कहने से तो आप आवेंगे !

अभागी और वंचिता—प्रतीक्षा

सुख-सदन, २७ जून

पूजनीय,

आप चाहे जिस तत्त्व के हों, हृदय आपका पाषाण ही है ! मेरे ७ मार्च के पत्र को आप किस निर्दयता से पी गये ! शादी में तो खैर आये ही नहीं ! वैसे ही हैं आलोक जी !

मन में गुस्सा भरा हुआ था । प्रतिज्ञा की थी कि अब जीवन में आपको कभी पत्र नहीं लिखूँगी । अगर आपका पत्र पाया तो उसका जवाब भी नहीं दूँगी । पर क्या करूँ ? हृदय नारी का पाया है····और नारी का ! मैं जितना रोई हूँ और जितनी पीड़ित मैं रही हूँ, उसे आप कैसे समझ सकेंगे ? बार-बार द्वार तक गई आप आये हों !

कहने को आप लेखक हैं । भावुक हैं ! दूसरों के दुःख-दर्दों और अनुभूतियों में आप डूबते उतराते रहते हैं । लेकिन आपकी सारी भावुकता और पर सुख-दुःख की अनुभूति बड़ी थोथी और झूठी हैं । आप लोग ठीक उस क़वि की तरह हैं जो क्रान्ति के गीत गाता था और जब क्रान्ति का महापर्व जुड़ा तो कायर मुँह छिपाकर बैठ गया ! जितना अपनापन आप दिखाते हैं, अगर वह यथार्थ होता तो क्या आप मेरी शादी में आते नहीं ! दीदी से भी आपको खत लिखवाया, परन्तु आपने दीदी के पत्र का भी उत्तर नहीं दिया । आज मैं ही छोटी बनकर लिख रही हूँ । पर बनकर क्यों, छोटी तो मैं हूँ ही ।

रेखा दीदी यहाँ कुल दस दिन रहीं । दीदी ने आपको जो दूसरा पत्र लिखा है, उसमें 'उनकी' बड़ी तारीफ़ की है । हाँ, बात सच है, वे बहुत सीधे हैं । उनकी भी अपनी न कोई रुचि है, न कोई इच्छा । जो प्रतीक्षा चाहे; करे, वही ठीक है । एक अपना स्वभाव है—चंचल, परन्तु कभी-कभी उनके इस निर्लिप्त भाव को देख खीज और व्यथा भी बहुत होती है । कैसी अभागिन हूँ ! पति भी ऐसा कि उसकी आँख की पुतली कभी ऊपर नहीं उठती ! कई बार झुँझलाई हूँ, गुस्सा किया है । वक्त पर चाय नहीं बनाई । उस दिन पिक्चर चली गई । साढ़े सात बज रहे थे, जब लौटी । सोचा, आज तो उनका क्रोध

देखने को मिलेगा। पर पाया कि वे हँस रहे हैं—कैसी पिक्चर थी प्रतीक्षा ? देवदास उपन्यास तो बेजोड़ है। सचमुच, इस घर में आई हो, तब से तुम्हें कुछ भी सुख तो नहीं मिला ! कभी-कभी घूम आया करो। न जाने क्यों भीतर ही भीतर रुलाई फूट पड़ी ! यह कैसा पुरुष है कि अपनी पत्नी को कभी डाँट नहीं सकता ! उन्होंने नाश्ता नहीं किया था। मैं नहीं खिलाऊँ तो वे क्यों खायेंगे ? फिर रोती रही और नाश्ता बनाता रही।

लगता है मैं पागल हो जाऊँगी ! मुझे इतना प्यार नहीं चाहिये····नहीं चाहिये ! कैसा मेरा भाग्य कि सुख और दुःख दोनों ही मुझे रुलाते हैं ! माँ, पिता, दीदी ही क्या कम थीं,—पिक्चर में तीन घन्टे देवदास और पारो ने भी मन झकझोर दिया !······कहीं मैं पारो तो नहीं ! घर में जो यह व्यक्ति है वह भी मुझे रुलाता है अपने प्यार के असीमित अनुदान से—देवदास की तरह ही !

वे बातें याद आ रही हैं—लोगों की लालसा भरी नजरें देखकर मुस्करा उठती थीं। प्रकृति का सहज स्वभाव ! राह चलते आगे-पीछे से इशारों में कही बातें, सहानुभूति का दान—यह हम नारियों के लिये सदा सुरक्षित है। एक दिन जब एक प्रेम-पत्र मिला था—खूब हँसी मैं ! उसे भी समझा दिया। भला था, फिर दुबारा आँख उठाकर देखने का साहस नहीं किया। उस दिन तो हँसते-हँसते लोट-पोट हो गई, एक बनी-ठनी देवीजी ने अपनी साइकिल एक पढ़े-लिखे बाबू पर चढ़ा दी। बेचारे के हाथ-पैर टूट गये। बहुत बिगड़ा वह—अन्धे हैं, देखकर साइकिल नहीं चलाते ! परन्तु जब उसने साईकिल वाली को देखा, बेचारा बड़ा लज्जित हुआ, खुद माफी माँगने लगा—जी कोई बात नहीं ! ऐसा तो होता ही रहता है ! आपके चोट तो नहीं लगी ?

लेकिन अब तो सारी प्रफुल्लता नष्ट होती जा रही है ! किसी को अपनी ओर देखती हुई भी पाती हूँ तो बहुत बुरा लगता है।

दीदी ने शिकायत तो नहीं की है, पर लगता है कि आप उन्हें पत्रों का उत्तर नहीं देते, इसका वे बुरा मानती हैं। वे आपको एक बार अपने यहाँ बुलाना चाहती हैं ! उन्हें पत्र लिखने की हिम्मत नहीं होती—मुझे लिखा है इस बसन्त-पञ्चमी को उनके बेबी के मुण्डन संस्कार में आप हम लोगों के साथ चलेंगे ? हमें बहुत खुशी होगी !

हाँ ! उन दिनों में आप से एक बात पूछना चाहती थी—सुधाकर ने क्या कह दिया था मेरे बारे में कि आप उससे लड़ पड़े थे ? बुरी भी बात हो, तब भी लिख दीजिये। मैं तो किसी बात का बुरा मानती नहीं।

अब भी आप पत्र नहीं लिखेंगे क्या ? वे आपको नमस्कार लिखाते हैं। अच्छा ! आपकी अमलाजी के क्या हाल-चाल हैं ? उत्तर की प्रतीक्षा में—

आपकी—प्रतीक्षा

सुख-सदन, १ जुलाई

पूजनीय,

अच्छा, मैं आपको पत्थर ही मान लेती हूँ, जिसके अन्तर से स्निग्ध-जल की शीतल धार प्रस्फुटित होती है ! परन्तु, क्या मुझ से कोई भारी अपराध हुआ है ? मेरे दो पत्रों को पाकर भी आप इस तरह चुप क्यों हैं, जैसे प्रतीक्षा को आप जानते ही न हों ?

दीदी के नाम से आप भागते क्यों हैं ? मैंने बीसियों बार दीदी का जिक्र अपने पत्रों में किया, परन्तु आप हठ पूर्वक वह बात उड़ा देते हैं। मैं क्या इतनी बुरी हूँ कि आपके मन की बात जानने का भी मुझे अधिकार नहीं है ! मैं तो इसीलिये अब तक चुप रही हूँ कि आप लाग मुझे अपनी राह का काँटा समझते रहे हैं, ऐसा भाग्य लेकर जन्मी ही नहीं कि किसी को अपना मीत कह सकती···वह तो न जाने किस दूर दिगन्त में होगा !

सच कहूँ—कई बार मन में आया कि आपसे पूछूँ—मुझे देखते ही आप लोग बातें करना क्यों बन्द कर देते हैं ? मैं इसीलिए जानबूझ कर आपके सामने से चली जाती थी। आपने मेरी आँखों में इस विवश मौन को आँक लिया था पर तब आपके प्रश्न करने पर भी मैं उत्तर नहीं दे सकी थी। न जाने कौन-सी कुंठा थी मन में ! सोचा था—और यही आपसे कहा भी था, कभी लिखकर बताऊँगी। आज दूर हूँ, इसलिये लिख पा रही हूँ ! सच कहिये क्या मेरा अनुमान सही था ? बस, आज इतना ही।

आपकी ही—प्रतीक्षा,

पूज्यनीया प्रतीक्षाजी,

इधर बीमारी चल रही थी। पत्र तो मिले थे, लेकिन लिखने की रुचि नहीं हो रही थी।

विभ्रम में पड़ गया हूँ। क्या उत्तर दूँ आपके पत्रों का—विशेषकर तीसरे पत्र का ! उपेक्षा भी नहीं कर सकता। सच बोलूँ तो कहीं आपकी सहानुभूति का अपात्र न हो जाऊँ ! आपके मन के किस भ्रम ने आपसे ऐसा कहा ? आपकी उथल-पुथल का कुछ आभास मुझे निस्सन्देह मिला था।

आप अपनी दीदी को हटाकर क्या कभी कल्पना नहीं कर सकती वहाँ ?

कहूँ, कर लीजिये, तो मुझे क्या दण्ड मिलेगा ? लेकिन आप की उथल-पुथल के तल में आपकी अनुरक्ति का आभास मुझे कहीं और मिला था ! क्या मेरा अनुमान ठीक है ?

पता नहीं, यह पत्र आपको कैसा रुचेगा ? विचार कर रहा हूँ, अवकाश निकालकर दो दिन के लिये आपके यहाँ आऊँ ।

—एक दिग्भ्रान्त !

सुख-सदन, १ सितम्बर

अपूर्णा जी,

आपने मेरी श्रद्धा-भावना का अच्छा बदला चुकाया । आपका छोटा-सा पत्र कितना तीखा और विष-बुझा है ! मेरा अन्तर्मन तक उसकी जलन से तप रहा है । आपने क्या समझकर मुझे वैसा पत्र लिखा ? मैं आपको आदर्श समझती रही, परन्तु उस पत्र को पढ़ने के बाद यही कहना पड़ेगा कि हर कालिख के ऊपर ही सफेदी पुती होती है। आप इतने लोभी, पतित और आचरण हीन होंगे इसकी तो मैं स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकती थी ! मेरी अनुरक्ति का आभास कहीं और से आपका तात्पर्य क्या है ? अपनी इसी कलुषता पर परदा डालने के लिए आप अपने को पाषाण और जाने क्या-क्या कहते थे ! काश, आप पाषाण ही हुये होते ! परन्तु आप जो हैं उसकी उपमा किससे दूँ ? पुरुषमात्र से मुझे घृणा होने लगी है !

सच, यह पूज्य और श्रद्धाभाव मनुष्य को कितना अविवेकी और मूर्ख बना देता है, जो मैं आपको अब तक नहीं पहचान पाई ! इसीलिये आप रिश्तों का बन्धन स्वीकार नहीं करना चाहते थे ? उच्छृङ्खलता और मानसिक अनाचार की पृष्ठभूमि में वह पवित्र बन्धन टिकता भी कितनी देर ! अपने स्वार्थ और अहं के लिये आपने क्या-क्या दलीलें निकाल लीं !

क्या नारी बनकर जन्म लेना इतना बुरा है ? या उसमें रूप और आकर्षण हैं, यौवन और रस है; या वह हँस बोल लेती है ? तो पुरुष का यह अधिकार है कि वह उसे अपनी आँखों की पैनी धार से काट दे या उसे समूचा निगल जाये ? आप बन्धनों को नहीं मानते, न मानें; परन्तु आप अपनी तरह दूसरों को भी अमर्यादित और उच्छृङ्खलित देखना चाहते हैं ? एक विवाहित पुरुष का विवाहित नारी के प्रति यह दृष्टिकोण बहुत क्षुद्र है। एक बार पूज्यभाव से अर्घ्य दे चुकी हूँ, इसलिये आप पर मन का रोष नहीं निकाल पाती, इसे ही आप पर्याप्त समझें, अन्यथा........

भविष्य में मुझे कोई पत्र न लिखें।

—प्रतीक्षा

पुनश्च :—

मेरा फोटो तुरन्त वापिस भेज दें किन्तु उसके साथ कोई पत्र नहीं रखें आप मेरे यहाँ आरहे थे—अब उसकी आवश्यकता नहीं है।

—प्रतीक्षा

११ सितम्बर,...

परम आदरणीय !

पत्र लिखने के लिये मजबूर हूँ। आप भी सम्भवतः बिना पढ़े तो इसे फाड़ नहीं पायेंगी ! आपकी अन्यथा का टूटा तार मैंने खोज लिया है। मेरे प्रति घृणा तो उचित है, परन्तु समस्त पुरुष वर्ग के प्रति···याने आपके पति और भगवान ने चाहा तो कल पुत्र भी···उन्हें मेरे पाप का दण्ड क्यों देती हैं ? आपकी श्रद्धा और घृणा दोनों का विकास बड़े त्वरित भाव से हुआ है ! आप तो रूढ़ियों के घेरे के बाहर होने की बात किया करती थीं। परन्तु, यथार्थ में आप अपने संस्कारों की पसन्दगी के गोल दायरे से कभी बाहर नहीं आई हैं ! भावावेश के इस दूसरे प्रहार के बाद आपका जो रूप निखरा है, वही आपकी गहरी अनुभूति और आपके सच्चे स्वरूप का दिग्दर्शन है। इसे मैंने कभी दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया है। अतः आपके उत्तर से मुझे क्षोभ या आश्चर्य नहीं हुआ है !

इन्सान को लेकर इन्सान की आलोचना बहुत होती रही है। परन्तु थोड़ी सी जिज्ञासा यही है कि उसको मापने का एक सदा सही मापदण्ड क्या है ? हमने सिर्फ अपना ही पैमाना हमेशा के लिए सही और अन्तिम माना है ! मसलन, कल तक मैं आपकी भावना और रुचि के अनुकूल बातें करता रहा, बहुत भला था (जिसका मैं सदैव विरोध करता रहा) और आज मेरे दो शब्दों ने मुझे ही नहीं सारे पुरुष वर्ग को आपकी नजरों में इतना नीचा गिरा दिया है (जिसका भी मैं अब विरोध करता हूँ।) भले-बुरे का निर्णय आपकी स्वतन्त्र मनः स्थिति पर निर्भर है—परिस्थिति, वातावरण, तथ्य और औचित्य की उसमें कोई गुंजायश नहीं है ! आपने मुझे लेकर एक इतर व्यक्ति के सम्बन्ध में कुछ-कल्पना कर ली। सही-गलत का समाधान महत्वपूर्ण नहीं है—वह एक साधारण स्वाभाविक जिज्ञासा है ! वही और वैसी ही कल्पना मैंने आपके लिये की और उतने ही सहज भाव से उसे आप पर प्रकट भी किया। इसमें कौन-सा गम्भीर अनौचित्य हुआ ? ज़रा तराजू के दोनों पलड़ों पर इन दो

तथ्यों को आप तोलें ! आप शायद यह कल्पना करती थीं कि संसार में जो कुछ है 'केवल कहने योग्य है !'—मैंने इतना संशोधन ही तो और किया—'कुछ सुनने योग्य भी और सुनकर सहने योग्य भी है !'

आपको क्षोभ है (जो अब तक आपसे अलक्षित था] कि मैं एक अनैतिक भावना को अपने मन में प्रश्रय दे रहा हूँ और फिर विवाहित होकर भी। लेकिन वस्तुतः नैतिक-अनैतिक की परिभाषा आप क्या करना चाहती हैं ? क्या आप नारी-पुरुष के स्वाभाविक सम्मोहन को अनैतिक कहना चाहती हैं ? या आप कहना चाहती हैं कि वासना, स्वार्थ और भावुकता मानव की स्वतः प्रवृत्तियाँ नहीं हैं ? यह सच है कि मैं और अब आप भी विवाहित हैं। शायद आपका यह मतलब तो नहीं कि अविवाहित रहते हुए हम जो यौन कल्पना करते हैं या इससे और आगे बढ़ जाते हैं—वे मर्यादित और नैतिक हैं ? बस, विवाह हो जाने के उपरान्त यह सारी सुविधाएँ बदल जाती हैं ? मुझे अब भी सन्देह है कि विवाह द्वारा आदमी की नैतिकता-अनैतिकता में फर्क पड़ सकता है ! मनुष्य की वासना, स्वार्थ और भावुकता न रहे तो वह मनुष्य न रहेगा—सृष्टि के नियमों का पालक भी नहीं !

मेरी धारणा है कि विवाह ने आपकी स्वतन्त्र चेतना, प्रति पल की हँसी और विश्वास छीन लिये हैं। क्योंकि आपने सामाजिक समझौते वाले विवाह को भी धर्म की चादर उढ़ा दी है जो अपने मूल में स्वयं भ्रामक है ! जिस नैतिकता को लेकर आपके अहं को ठेस लगी है, उसके क्रम-बद्ध इतिहास को आप देख पायें तो सचमुच आपका मन वितृष्णा से भर उठेगा ? मैं विवाह को परस्पर सन्देह करने अथवा स्वयं अपनी निष्ठा, विचारशक्ति और मान्यताओं पर अविश्वास करने का अधिकारी मानने से दृढ़तापूर्वक इन्कार करता हूँ। कल भी कुछ और प्रतीक्षाजी मुझ पर कुपित हुईं सो तो ठीक, परन्तु, अचरज, कि उन्हें अपने मन पर भी अविश्वास और अश्रद्धा उमड़ आई !

यही बात है कि जब आप किसी पुरुष के विषय में कुछ व्यक्त करती हैं अपने एकाकी दृष्टिकोण से ! एक व्यक्ति जब आपके प्रति अपना साधारण प्रेम व्यक्त करता है, उसका सम्बन्ध आप बिना विवेक के, अपने शारीरिक सम्बन्ध से जोड़ देती हैं। वह इसलिये कि आप नारी और पुरुष को सृष्टि का एक रूप मान कर नहीं देखना चाहतीं और इसलिये भी कि जिन अनजाने व्यक्तियों के प्रति अपने मन में निहित मोह, उनकी आसक्ति और अपने सौन्दर्य और रूप के प्रति उनके लोभ को पकड़ने पर अपने रूप और यौवन पर गर्व अनुभव कर मुग्ध हो सकती हैं, उसके प्रति क्षोभ उमड़ पड़ता है जो तटस्थ भाव से आपके

प्रति अपना आकर्षण व्यक्त कर सकता है। पर एक बात ! अपने शरीर से परे आप पुरुष के इस प्रेम का कोई अन्य रूप नहीं देख सकतीं ? यह भी तो हो सकता है कि वह प्यार आपके उन्मुक्त, सरल स्वभाव के प्रति हो, आपकी समझ-बूझ की क्षमता के प्रति हो अथवा आपकी समान-वृत्ति के प्रति। मेरी जिन मान्यताओं और विचारों से आपको मेरे प्रति अपने समीप रहते हुए सन्देह करना था, वह तब न होकर आज हुआ है, जबकि मैं और आप इतनी दूर हैं। कुछ अजीब-सा लगता है !

और रूप, यौवन या सौन्दर्य के प्रति ही सही, पहिले तो यह कि क्या पुरुष और क्या नारी (जड़-पुरुष-नारी भी) कोई भी सृष्टि के नियम—सम्मोहन—से मुक्त है ? सृष्टि का तो अस्तित्व ही कायम है प्राणवान् पुरुष और नारी के परस्पर सम्मोहन पर। एक मिसाल दूँ—चकोर का नाम सबने सुना है। उसके प्रेम की रीति और आदर्श भी सभी सराहते हैं। परन्तु उसके प्रेम के दो पहलू हैं, इसे कभी ध्यान देकर सोचा है आपने ? चकोर का प्रेम चन्द्रमा के प्रति है, यह सर्वविदित है, परन्तु चाँद उसकी कामेच्छा की आसक्ति (Lust) का निर्वाह नहीं करता ! चकोर की कामेच्छा की आसक्ति (Lust) का निर्वाह चकोरी द्वारा ही पूर्ण होता है ! यह प्रेम और आसक्ति (Lust) ही जीवन की धुरी के दोनों सिरे हैं जो यदि मिल नहीं सकते तो अलग भी नहीं किये जा सकते। कम-बेश यही पुरुष का [और नारी का भी] मनोविज्ञान और उसके रहस्य की सनातन कुञ्जी है। अतः पुरुष की परकीया नारी में अनुरक्ति उसकी आसक्ति भोग या कामना का चिह्न नहीं है, और न यह उसके अपने वैवाहिक जीवन का अनैतिक पहलू है; किन्तु हाँ, वह उसकी प्रेरक शक्ति अवश्य है—उसकी लोक मङ्गल की भावना ! यों सोलह कलाओं पूर्ण कृष्ण, मर्यादा पुरुषोत्तम राम और युद्ध-विशारद परशुराम भी भोग, लोभ और कोप से मुक्त नहीं थे—अवतारी कहला कर भी मानव ही तो थे ! परन्तु उनके भी मानव की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ थीं। पूर्ण मर्यादित प्रवृत्तियाँ ! इसलिए, परकीया नारी में अनुरक्ति भी मेरे लिये कोई अनुचित भावना नहीं है—यदि वह अपने में मर्यादित है। आप चाहें तो इस सत्य [वा झूठ] को न मानें ! वैसे, यदि यह झूठ या पाप है तो यह युगों से चला आ रहा है और यही झूठ और पाप युगों तक चलता भी रहेगा ! सृष्टि का नियम ठहरा यह !

किन्तु आप यह न समझें कि मैंने यह पत्र लिखकर अपनी लाछना को धोया है। मैं उसे स्वीकार कर रहा हूँ; परन्तु अपने तौर-तरीकों से ! आपसे जो मिला है, वह अनपेक्षित कभी नहीं था। विगत-स्नेह, सम्मान और अपनत्व को

(जो आपने खतरा उठाकर अब तक दिया) तथा अब से आपकी सचाई के प्रति अपना आभार प्रकट करते हुए अनुगृहीत हूँ ! फोटो तो लौटा ही रहा हूँ; शायद आपको अपने पत्रों की भी आवश्यकता अनुभव हो रही हो, वे भी साथ ही नत्थी कर रहा हूँ ! हाँ, अब आपके यहाँ आ सकने का अधिकार तो मैंने स्वयं ही खो दिया है ! —आवरणहीन—अपूर्ण ।

[दस वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। प्रतीक्षाजी ने पूरी निष्ठा और दृढ़ता के साथ अपने वचन की रक्षा की है। यह सुना गया था कि मेरा अन्तिम पत्र उन्होंने पढ़ा अवश्य था, परन्तु उसे मेरे फोटो और अन्य पत्रों के साथ ही अग्निदेव को सादर समर्पित भी कर दिया था। —अपूर्ण]

———

बादल

रांगेय राघव

डा० रांगेय राघव

जन्म—१९२३ बाग मुजफ्फर खाँ आगरा।

रांगेय राघव हिन्दी साहित्य के उन शिल्पियों में से हैं जिनकी प्रतिभा बहुमुखी है। उनकी कला का माध्यम एक न होकर अनेक हैं और वह भी एक से एक ललित और सशक्त। कवि और कथाकार होने के अतिरिक्त नाटक, आलोचना और चित्रकला का भण्डार भी रांगेय राघव की लेखनी और तूलिका ने समृद्ध किया है। रांगेय राघव "लेखनी चलाने को हल चलाने के बराबर, तलवार चलाने के बराबर समझते हैं" और साहित्य और कला की इसी सजग परम्परा के सशक्त और समर्थ वाहक हैं। बङ्गाल के भयङ्कर अकाल में आगरे के डाक्टरी जत्थे के साथ जाकर उन्होंने शस्य श्यामला बङ्ग भूमि में मृत्यु का भीषण तांडव देखा और 'विषाद मठ' तथा 'तूफानों के बीच' में उसका सजीव चित्रण पेश किया। 'मेधावी' (खंड काव्य) में मानव के अपराजेय जीवन का सरस चित्र प्रस्तुत किया है।

रांगेय राघव की शैली अपनी अलग विशेषता रखती है, जिसमें बिजली की सी कड़क, पानीदार तलवार की सी धार और प्रशान्त सिन्धु की लहरों का जीवन-मय संगीत झूमता हुआ सा लगता है।

रांगेय राघव उन थोड़े से साहित्य साधकों मे से हैं जो अहिन्दी भाषी होते हुए भी हिन्दी का भण्डार भरने में मौन रूप से प्रयत्नशील हैं और भारतीय संस्कृति की आधार भूत एकता के जीवित प्रतीक हैं।

रांगेय राघव की अब तक उपन्यास, कहानी संग्रह, काव्य संग्रह, नाटक, आलोचना आदि की लगभग पचास-पचपन पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें मुख्य हैं—घरौंदे, मुर्दों का टीला (उपन्यास); साम्राज्य का वैभव, ऐयाश मुर्दे, समुद्र के फेन (कहानी संग्रह); पिघलते पत्थर, मेधावी (काव्य); प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास (इतिहास); काव्य, यथार्थ और प्रगति, प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड (आलोचना) आदि आदि।

गदल

[श्री रांगेय राघव]

बाहर शोर-गुल मचा। डोड़ी ने पुकारा—कौन है ?

कोई उत्तर नहीं मिला। आवाज़ आयी—हत्यारिन ! तुझे कतल कर दूँगा !

स्त्री का स्वर आया—करके तो देख ! तेरे कुनबे को डायन बनके न खा गयी, निपूते !

डोड़ी बैठा न रह सका। बाहर आया।

—क्या करता है, क्या करता है, निहाल ?—डोड़ी बढ़कर चिल्लाया—आखिर तेरी मैया है।

—मैया है !—कहकर निहाल हट गया।

—अरे तू हाथ उठाके तो देख !—स्त्री ने फुफकारा—कढ़ी खाये ! तेरी सींक पर बिलियाँ चलवा दूँ ! समझ रखियो ! मत जान रखियो, हाँ ! तेरी आसरतू नहीं हूँ।

—भाभी !—डोड़ी ने कहा—क्या बकती है ? होश में आ !

वह आगे बढ़ा। उसने मुड़कर कहा—जाओ सब ! तुम सब लोग जाओ !

निहाल हट गया। उसके साथ ही सब लोग इधर-उधर हो गये।

डोड़ी निस्तब्ध छप्पर के नीचे लगा बरैंडा पकड़े खड़ा रहा। स्त्री वहीं बिखरी हुई-सी बैठी रही। उसकी आँखों में आग-सी जल रही थी।

उसने कहा—मैं जानती हूँ, निहाल में इतनी हिम्मत नहीं। यह सब तैंने किया है, देवर !

—हाँ, गदल।—डोड़ी ने धीरे से कहा। मैंने ही किया है।

गदल सिमट गयी। कहा—क्यों, तुझे क्या जरूरत थी ?

डोड़ी कह नहीं सका। वह ऊपर से नीचे तक झनझना उठा। पचास साल का वह लम्बा खारी गूजर, जिसकी मूँछे खिचड़ी हो चुकी थीं, छप्पर तक पहुँचा-सा लगता था। उसके कंधे की चौड़ी हड्डियों पर अब दीये का हल्का प्रकाश पड़ रहा था, उसके शरीर पर मोटी फतूही थी और उसकी धोती घुटनों के नीचे उतरने के पहले ही झूल देकर चुस्त-सी ऊपर की ओर लौट

जाती थी। उसका हाथ कर्रा था और वह इस समय निस्तब्ध खड़ा रहा।

स्त्री उठी। वह लगभग ४५ वर्षीया थी, और उसका रंग गोरा होने पर भी आयु के धुँधुलके में अब मैला-सा दिखने लगा था। उसको देखकर लगता था कि वह फुर्तीली थी। जीवन भर कठोर मेहनत करने से, उसकी गठन के ढीले पड़ने पर भी, उसकी फुर्ती अभी तक मौजूद थी।

—तुझे शरम नहीं आती, गदल ?—डोड़ी ने पूछा।

क्यों, शरम क्यों आयेगी ?—गदल ने पूछा।

डोड़ी क्षण भर सकते में पड़ गया। भीतर के चौबारे से आवाज़ आयी—शरम क्यों आयेगी इसे ? शरम तो उसे आये, जिसकी आँखों में हया बची हो।

—निहाल !—डोड़ी चिल्लाया—तू चुप रह।

फिर आवाज़ बन्द हो गयी।

गदल ने कहा—मुझे क्यों बुलाया है तूने ?

डोड़ी ने इस बात का उत्तर नहीं दिया। पूछा—रोटी खायी है ?

—नहीं।—गदल ने कहा—खाती भी कब ? कमबखत रास्ते में मिले। खेत होकर लौट रही थी। रास्ते में अरने-कण्डे बीनकर संझा के लिए ले जा रही थी।

डोड़ी ने पुकारा—निहाल ! बहू से कह, अपनी सास को रोटी दे जाये।

भीतर से किसी स्त्री की ढीठ आवाज़ सुनायी दी—अरे, अब लौहरों की बैयर आयी हैं; उन्हें क्यों गरीब खारियों की रोटी भायेगी !

कुछ स्त्रियों ने ठहाका लगाया।

निहाल चिल्लाया—सुन ले, परमेसुरी, जगहँसाई हो रही है। खारियों की तो तूने नाक कटाकर छोड़ी।

२

गुन्ना मरा, तो पचपन बरस का था। गदल विधवा हो गयी। गदल का बड़ा बेटा निहाल तीस बरस के पास पहुँच रहा था। उसकी बहू दुल्लो का बड़ा बेटा सात का, दूसरा चार का और तीसरी छोरी थी जो उसकी गोद में थी। निहाल से छोटी तरा-ऊपर की दो बहिनें थी चंपा और चमेली, जिनका क्रमशः झाज और विस्वारा गाँवों में ब्याह हुआ था। आज उनकी गोदियों से उनके लाल उतरकर धूल में घुटुरुव चलने लगे थे। अन्तिम पुत्र नरायन अब बाईस का था, जिसकी बहू दूसरे बच्चे की माँ होने वाली थी। ऐसी गदल,

इतना बड़ा परिवार छोड़कर चली गई थी और बत्तीस साल के एक लौहरे गूजर के यहाँ जा बैठी थी।

डोड़ी गुन्ना का सगा भाई था। बहू थी, बच्चे भी हुए। सब मर गये। अपनी जगह अकेला रह गया। गुन्ना ने बड़ी-बड़ी कही, पर वह फिर अकेला ही रहा, उसने ब्याह नहीं किया, गदल ही के चुल्हे पर खाता रहा। कमा कर लाता, वो उसी को दे देता, उसी के बच्चों को अपना मानता, कभी उसने अलगाव नहीं किया। निहाल अपने चाचा पर जान देता था। और फिर खारी गूजर अपने को लौहरों से ऊँचा समझते थे।

गदल जिसके घर जा बैठी थी, उसका पूरा कुनवा था। उसने गदल की उम्र नहीं देखी, यह देखा कि खारी औरत है पड़ी रहेगी। चूल्हे पर दम फूँकने वाली की जरूरत भी थी।

आज ही गदल सबेरे गयी थी और शाम को उसके बेटे उसे फिर बाँध लाये थे। उसके नये पति मौनी को अभी पता भी नहीं हुआ होगा। मौनी रँडुवा था। उसकी भाभी जो पाँव फैलाकर मटक-मटककर छाछा बिलोती थी।

दुल्लो सुनेगी तो क्या कहेगी ?

गदल का मन विक्षोभ से भर उठा।

आधी रात हो चली थी। गदल वहीं पड़ी थी। डोड़ी वहीं बैठा चिलम फूँक रहा था।

उस सन्नाटे में डोड़ी ने धीरे से कहा—गदल।

—क्या है ?—गदल ने हौले से कहा।

तू चली गयी न ?

गदल बोली नहीं। डोड़ी ने फिर कहा—सब चले जाते हैं। एक दिन तेरी देवरानी चली गयी, फिर एक-एक कर के तेरे भतीजे भी चले गये। भैया भी चला गया। पर तू जैसे गयी, वैसे तो कोई भी नहीं गया। जग हँसता है, जानती है ?

गदल ने बुरबुराया—जग हँसाई से मैं नहीं डरती, देवर ! जब चौदह की थी, तब तेरा भैया मुझे गाँव में देख गया था। तू उसके साथ तेल पिया लट्ठ लेकर मुझे लेने आया था न, तब ? तब मैं आयी थी कि नहीं ? तू सोचता होगा कि गदल की उमिर गयी, अब उसे खसम की क्या जरूरत है ? पर जानता है, मैं क्यों गयी ?

—नहीं।

—तू तो बस यही सोचा करता होगा कि गदल गयी, अब पहले-सा

रोटियों का आराम नहीं रहा। बहुएँ नहीं करेंगी तेरी चाकरी, देवर! तूने भाई से और मुझसे निभायी, तो मैंने भी तुझे अपना ही समझा! बोल, झूठ कहती हूँ?

—नहीं, गदल। मैंने कब कहा।

—बस यही बात है, देवर! अब मेरा यहाँ कौन है! मेरा मरद तो मर गया। जीते जी मैंने उसकी चाकरी की, उसके नाते उसके सब अपनों की चाकरी बजायी। पर जब मालिक ही न रहा, तो काहे को हड़कम्प उठाऊँ! यह लड़के, यह बहुएँ! मैं इनकी गुलामी नहीं करूँगी!

—पर क्या यह सब तेरी औलाद नहीं, बावरी। बिल्ली तक अपने जायों के लिए सात घर उलट-फेर करती है, फिर तू तो मानुष है। तेरी माया-ममता कहाँ चली गयी?

—देवर, तेरी कहाँ चली गयी थी, जो तूने फिर ब्याह न किया!

—मुझे तेरा सहारा था, गदल!

—कायर! भैया तेरा मरा, कारज किया बेटे ने और फिर जब सब हो गया, तब तू मुझे रखकर घर नहीं बसा सकता था! तू ने मुझे पेट के लिए पराई ड्यौढ़ी लँघवायी। चूल्हा में तव फूँकूँ, जब मेरा कोई अपना हो। ऐसी बाँदी नहीं हूँ कि मेरी कुहनी बजे, औरों के बिछिया झनके। मैं तो पेट तब भरूँगी, जब पेट का मोल कर लूंगी। समझा, देवर! तूने तो नहीं कहा तब। अब कुनबे की नाक पर चोट पड़ी, तब सोचा। तब न सोचा, जब तेरी गदल को बहुओं ने आँखें तरेर कर देखा। अरे, कौन किसी की परवाह करता है!

—गदल!—डोड़ी ने भर्राये स्वर में कहा—मैं डरता था।

—भला क्यों तो?

—गदल, मैं बुड्ढा हूँ। डरता था, जग हँसेगा। बेटे सोचेंगे, शायद चाचा का अम्मा से पहले ही से नाता था, तभी चाचा ने दूसरा ब्याह नहीं किया। गदल, भैया की भी बदनामी होती न?

—अरे चल रहने दे! गदल ने उत्तर दिया—भैया का बड़ा ख्याल रहा तुझे! तू नहीं था कारज में उनके क्या? मेरे सुसर मरे थे, तब तेरे भैया ने बिरादरी को जिमा कर ओठों से पानी छुलाया था अपने। और तुम सब ने कितने बुलाये? तू भैया, दो बेटे। यही भैया हैं, यही बेटे हैं? पच्चीस आदमी बुलाये कुल। क्यों आखिर? कह दिया लड़ाई में कानून है। पुलिस पच्चीस से ज्यादा होते ही पकड़ ले जायेगी! डरपोक कहीं के! मैं नहीं रहती ऐसों के।

हठात् डोड़ी का स्वर बदला। कहा—मेरे रहते तू पराये मरद के जा बैठेगी ?

—हाँ।

—अबके तो कह !—वह उठ कर बढ़ा।

—सौ बार कहूँ लाला !—गदल पड़ी-पड़ी बोली।

डोड़ी बढ़ा।

—बढ़ !—गदल ने फुफकारा।

डोड़ी रुक गया। गदल देखती रही। डोड़ी जाकर बैठ गया। गदल देखती रही। फिर हँसी। कहा—तू मुझे करेगा ! तुझ में हिम्मत कहाँ है, देवर ? मेरा नया मरद है न ? मरद है। इतनी सुन तो ले भला। मुझे लगता है तेरा भइया ही फिर मिल गया है मुझे। तू ?—वह रुकी—मरद है ! अरे कोई बैयर से घिघियाता है। बढ़कर जो तू मुझे मारता, तो मैं समझती, तू अपनापा मानता है। मैं इस घर में रहूँगी ?

डोड़ी देखता ही रह गया। रात गहरी हो गयी। गदल ने लँहगे की पर्तें फैलाकर तन ढँक लिया। डोड़ी ऊँघने लगा।

४

ओसारे में दुल्लो ने अँगड़ायी लेकर कहा—आ गयीं देवरानीजी। रात कहाँ रहीं ?

सूका डूब गया था। आकाश में पौ फट रही थी। बैल अब उठकर खड़े हो गये थे। हवा में एक ठण्डक थी।

गदल ने तड़ाक से जवाब दिया—सो, जिठानी मेरी ! हुकुम नहीं चला मुझ पर। तेरी-जैसी बेटियाँ हैं मेरी। देवर के नाते देवरानी हूँ, तेरी जूती नहीं।

दुल्लो सकपका गयी। मौनी उठा ही था। भन्नाया हुआ आया। बोला—कहाँ गयी थी ?

गदल ने घूँघट खींच लिया, पर आवाज नहीं बदली। कहा—वही ले गये मुझे घेर कर ! मौका पाके निकल आयी।

मौनी दब गया। मौनी का बाप बाहर से ही ढोर हाँक ले गया। मौनी बढ़ा।

—कहाँ जाता है ?—गदल ने पूछा।

—खेतहार।

—पहले मेरा फैसला कर जा।—गदल ने कहा।

दुल्लो उस अधेड़ स्त्री के नक्शे देख कर अचरज में खड़ी रही।

—कैसा फैसला ?—मौनी ने पूछा। वह उस बड़ी स्त्री से दब गया था।

—अब क्या तेरे घर का पीसना पीसूंगी मैं ?—गदल ने कहा—हम तो दो जने हैं। अलग करेंगे, खायेंगे। उसके उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही वह कहती रही—कमाई शामिल करो, मैं नहीं रोकती, पर भीतर तो अलग-अलग भले।

मौनी क्षण भर सन्नाटे में खड़ा रहा। दुल्लो तिनक कर निकली। बोली—अब चुप क्यों हो गया, देवर ? बोलता क्यों नहीं ? मेरी देवरानी लाया है कि सास ! तेरी बोलती क्यों नहीं कढ़ती ? ऐसी न समझियो तू मुझे ! रोटी तवा पर पलटते मुझे भी आँच नहीं लगती, जो मैं इसकी खरी-खोटी सुन लूंगी, समझा ? मेरी अम्मा ने भी मुझे चूल्हे की मट्टी खाके ही जना था। हाँ !

—अरी ती सौत !—गदल ने पुकारा—मट्टी न खा के आयी, सारे कुनबे को चबा जायेगी, डायन ! ऐसी नहीं तेरी गुड़ की भेली है, जो न खायेंगे हम, तो रोटी गले में फंदा मार जायेगी।

मौनी उत्तर नहीं दे सका। वह बाहर चला गया। दुपहर हो गयी दुल्लो बैठी चरखा कात रही थी। नरायन ने आकर आवाज़ दी—कोई है ?

दुल्लो ने घूंघट काढ़ लिया। पूछा—कौन हो ?

नरायन ने खून का घूंट पीकर कहा—गदल का बेटा हूँ।

दुल्लो घूंघट में हँसी। पूछा—छोटे हो कि बड़े ?

—छोटा।

—और कितने हैं ?

कित्ते भी हों। तुझे क्या ?—गदल ने निकल कर कहा।

—अरे आ गयी !—कहकर दुल्लो भीतर भागी।

आने दे आज उसे। तुझे बता दूंगी, जिठानी !—गदल ने सिर हिलाकर कहा।

—अम्मा !—नरायन ने कहा—यह तेरी जिठानी है ?

—क्यों आया है तू ? यह बता !—गदल झल्लाई।

—दण्ड धरवाने आया हूँ, अम्मा !—कहकर नरायन आगे बैठने को बढ़ा।

—वहीं रह !—गदल ने कहा।

उसी समय लोटा डोर लिए मौनी लौटा। उसने देखा कि गदल ने अपने कड़े और हँसली उतार कर फेंक दी और कहा—भर गया दण्ड तेरा। अब मत आइयो कोई। समझा ! समझ लीजो थाने में रपट कर दूंगी कि मेरे

मरद का सब माल दवाकर बहुओं के कहने से बेटों ने मुझे निकाल दिया है।

नरायन का मुंह स्याह पड़ गया। वह गहने उठाकर चला गया। मौनी मन-ही-मन शङ्कित-सा भीतर आया।

दुल्लो ने शिकायत की—सुना तूने, देवर! देवरानी ने गहने दे दिये। घुटना आखिर पेट को ही मुड़ा। चार जगह बैठेगी, तो बेटों के खेत की डौर पर डण्डा-थूआ तक लग जायेंगे, पक्का चबूतरा घर के आगे बन जायेगा समझा देती हूँ। तुम भोले-भाले ठहरे। तिरिया चरित्तर तुम क्या जानो। धन्धा है यह भी। अब कहेगी, फिर बनवा मुझे।

गदल हँसी, कहा—वाह, जिठानी! पुराने मरद का मोल नये मरद से तेरे घर की बैयर ही चुकवाती होंगी। गदल तो मालकिन बन कर रहती है, समझी! बाँदी बन कर नहीं। चाकरी करूँगी तो अपने मरद की, नहीं तो बिधना मेरे ठेंगे पर। समझी! तू बीच में बोलने वाली कौन?

दुल्लो ने रोष से देखा और पाँव पटकती चली गयी।

मौनी ने देखा और कहा—बहुत बढ़-बढ़ कर बातें मत हाँक, समझ ले, घर में बहू बन कर रह!

—अरे तू तो तब पैदा भी नहीं हुआ था, बालम!— गदल ने मुस्कराकर कहा—तब से मैं सब जानती हूँ। मुझे क्या सिखाता है तू? ऐसा कोई मैंने काम नहीं किया है, जो बिरादरी के नेम के बाहर हो। जब तू देखे, मैंने ऐसी कोई बात की हो, तो हजार बार रोक, पर सौत की ठसक नहीं सहूँगी।

—तो बताऊँ तुझे!—वह सिर हिलाकर बोला।

गदल हँसकर ओबरी में चली गयी और काम में लग गयी।

५

ठण्डी हवा तेज हो गयी थी। डोड़ी चुपचाप बाहर छप्पर में बैठा हुक्का पी रहा था। पीते-पीते ऊब गया और उसने चिलम उलट दी और फिर बैठा रहा।

खेत से लौट कर निहाल ने बैल बाँधे, न्यार डाला और कहा—काका!

डोड़ी कुछ सोच रहा था। उसने सुना नहीं।

—काका!—निहाल ने स्वर उठाकर कहा।

—हैं! डोड़ी चौंक उठा—क्या है? मुझसे कहा कुछ?

—तुमसे न कहूँगा, तो कहूँगा किससे? दिन भर तो तुम मिले नहीं। चिम्मन कढ़ेरा कहता था, तुमने दिन भर मनमौजी बाबा की धूनी के पास बिताया। यह सच है?

—हाँ, बेटा, चला तो गया था।

—क्यों गये थे भला ?

—ऐसे ही जी किया था, बेटा।

—और कस्बे से बनिये का आदमी आया था, घी कटऊ क्या कराया, मैंने कहा नहीं है, वह बोला, लेके जाऊँगा। झगड़ा होते-होते बचा।

—ऐसा नहीं करते, बेटा।—डोड़ी ने कहा—बौहर से कोई झगड़ा मोल लेता है ?

निहाल ने चिलम उठायी, कण्डों में से आँच बीन कर धरी और फूँक लगाता हुआ आया। कहा—मैं तो गया नहीं। सिर फूट जाते। नरायन को भेजा था।

—कहाँ !—डोड़ी चौंका।

—उसी कुलच्छनी कुल बोरनी के पास।

—अपनी माँ के पास ?

—न जाने तुम्हें उससे क्या है, अब भी तुम्हें उस पर गुस्सा नहीं आता। उसे माँ कहूँगा मैं ?

—पर बेटा, तू न कह, जग तो उसे तेरी माँ ही कहेगा। जब तक मरद जीता है, लोग बैयर को मरद की बहू कह कर पुकारते हैं, जब मरद मर जाता है, तो लोग उसे बेटे की अम्मा कह कर पुकारते हैं। कोई नया नेम थोड़ा ही है।

निहाल भुनभुनाया। कहा—ठीक है, काका, ठीक है, पर तुमने अभी तक ये तो पूछा ही नहीं कि क्यों भेजा था उसे ?

—हाँ, बेटा।—डोड़ी ने चौंककर कहा—यह तो तूने बताया ही नहीं ! बता न ?

—दण्ड भरवाने भेजा था। सो पंचायत जुड़वाने के पहले ही उसने तो गहने उतार फेंके।

डोड़ी मुस्कराया। कहा—तो वह यह जता रही है कि घर वालों ने पंचायत भी नहीं जुड़वायी ? यानी हम उसे भगाना ही चाहते थे। नरायन ले आया ?

—हाँ।

डोड़ी सोचने लगा।

—मैं फेर आऊँ ?—निहाल ने पूछा।

—नहीं; बेटा।—डोड़ी ने कहा—वह सचमुच रूठ कर ही गयी है।

और कोई बात नहीं है। तूने रोटी खा ली ?

—नहीं।

—तो जा पहले खा ले।

निहाल उठ गया, पर डोड़ी बैठा रहा। रात का अँधेरा साँझ के पीछे ऐसे आ गया, जसे कोई पर्त्त उलट गयी हो।

दूर ढोला गाने की आवाज़ आने लगी। डोड़ी उठा और चल पड़ा।

निहाल ने बहू से पूछा—काका ने खा ली ?

—नहीं तो।

निहाल बाहर आया। काका नहीं थे।

—काका !—उसने पुकारा।

राह पर चिरंजी पुजारी गढ़वाले हनुमानजी के पट बन्द करके आ रहा था। उसने पूछा—क्या है, रे ?

—पाय लागूँ, पंडितजी।—निहाल ने कहा—काका अभी तो बैठे थे···।

चिरंजी ने कहा—अरे, वह वहाँ ढोला सुन रहा है। मैं अभी देखकर आया हूं।

चिरंजी चला गया, निहाल ठिठका खड़ा रहा। बहू ने झाँककर पूछा—क्या हुआ ?

—काका ढोला सुनने गये हैं !—निहाल ने अविश्वास से कहा—वे तो नहीं जाते थे।

—जाकर बुला ले आओ। रात बढ़ रही है।—बहू ने कहा। और रोते बच्चे को दूध पिलाने लगी।

निहाल जब काका को लेकर लौटा, तो काका की देही तप रही थी।

—हवा लग गयी है और कुछ नहीं।—डोड़ी ने छोटी खटिया पर अपनी निकली टाँगें समेट कर लेटते हुए कहा—रोटी रहने दे, आज जी नहीं चाहता।

निहाल खड़ा रहा। डोड़ी ने कहा—अरे, सोच तो, बेटा। मैंने ढोला कितने दिन बाद सुना है। उस दिन भैया की सुहाग रात को सुना था, या फिर आज······।

निहाल ने सुना और देखा, डोड़ी आँख मींचकर कुछ गुनगुनाने लगा था ···

६

शाम हो गयी थी। मौनी बाहर बैठा था। गदल ने गरम-गरम रोटी

और आम की चटनी ले जाकर खाने को धर दी।

—बहुत अच्छी बनी है।—मौनी ने खाते हुए कहा—बहुत अच्छी है।

गदल बैठ गयी। कहा—तुम एक ब्याह और क्यों नहीं कर लेते अपनी उमिर लायक ?

मौनी चौंका। कहा—एक की रोटी भी नहीं बनती।

—नहीं।—गदल ने कहा—सोचते होंगे सौत बुलाती हूँ, पर मरद का क्या ? मेरी भी तो ढलती उमिर है। जीते जी देख जाऊँगी तो ठीक है। न हो तो हुकूमत करने को तो एक मिल ही जायेगी।

मौनी हँसा। बोला—यों कह। हौंस है तुझे, लड़ने को कोई चाहिए।

खाना खाकर उठा, तो गदल हुक्का भरकर दे गयी और आप दीवार की ओट में बैठकर खाने लगी।

इतने में सुनायी दिया—अरे, इस बखत कहाँ चला ?

—जरूरी काम है, मौनी।—उत्तर मिला। पेसकार साब ने बुलवाया है।

गदल ने पहचाना। उसी के गाँव का तो था, घोव्या मैंना का चुन्दा गिर्राज ग्वारिया। जरूर पेसकार की गाय को चराने की बात होगी।

—अरे तो रात को जा रहा है ?—मौनी ने कहा—ले चिलम तो पीता जा।

आकर्षण ने रोका। गिर्राज बैठ गया। गदल ने दूसरी रोटी उठायी। कौर मुँह में रखा।

—तुमने सुना ?—गिर्राज ने कहा और दम खींचा।

—क्या ?—मौनी ने पूछा।

—गदल का देवर डोड़ी मर गया।

गदल का मुँह रुक गया। जल्दी से लोटे के पानी के सँग कौर निगला और सुनने लगी। कलेजा मुँह को आने लगा।

—कैसे मर गया ?—मौनी ने कहा। वह तो भला चङ्गा था !

—ठंड लग गयी। रात उघाड़ा रह गया।

गदल द्वार पर दिखायी दी। कहा—गिर्राज !

—काकी !—गिर्राज ने कहा—सच। मरते बखत उसके मुँह से तुम्हारा नाम कढ़ा था, काकी ! विचारा बड़ा भला मानस था।

गदल स्तब्ध खड़ी रही।

गिर्राज चला गया।

गदल ने कहा—सुनते हो।?

—क्या है री ?

—मैं जरा जाऊँगी।

—कहाँ ?—वह आतङ्कित हुआ।

—वहीं।

—क्यों ?

—देवर मर गया है न ?

—देवर ! अब तो वह तेरा देवर नहीं।

गदल हँसी झनझनाती हुई हँसी—देवर तो मेरा अगले जनम में भी रहेगा। वही न मुझसे रुखाई दिखाता, तो क्या यह पाँव कटे विना उस देहली से बाहर निकल सकते थे ? उसने मुझसे मन फेरा, मैंने उससे। मैंने ऐसा बदला लिया उससे !

कहते-कहते वह कठोर हो गयी

—तू नहीं जा सकती।—मौनी ने कहा।

—क्यों ?—गदल ने कहा—तू रोकेगा ? अरे, मेरे खास पेट के जाये मुझे रोक न पाये ! अब क्या है ? जिसे नीचा दिखाना चाहती थी, वही न रहा और तू मुझे रोकने वाला है कौन ? अपने मन से आयी थी, रहूँगी, नहीं रहूँगी, कौन तूने मेरा मोल दिया है ! इतना बोल तो भी लिया तू, जो होता मेरे उस घर में, तो जीभ कढ़वा लेती तेरी।

—अरी चल-चल !

मौनी ने हाथ पकड़कर उसे भीतर धकेल दिया और द्वार पर खाट डाल कर लेटकर हुक्का पीने लगा।

गदल भीतर रोने लगी, परन्तु इतनी धीरे कि उसकी सिसकी तक मौनी नहीं सुन सका। आज गदल का मन बहा जा रहा था।

रात का तीसरा पहर बीत रहा था। मौनी की नाक बज रही थी। गदल ने पूरी शक्ति लगा कर छप्पर का कोना उठाया और साँपिन की तरह उसके नीचे से रेंगकर दूसरी ओर कूद गयी।

७

मौनी रह-रहकर तड़पता था। हिम्मत नहीं होती थी कि जाकर सीधे गाँव में हल्ला करे और लट्ठ के बल पर गदल को उठा लाये। मन करता, सुसरी की टाँगें तोड़ दे। दुल्लो ने व्यंग भी किया कि उसकी लुगाई भागकर नाक कटा गयी है, खून का-सा घूंट पीकर रह गया। गूजरों ने जब सुना, तो कहा—अरे

बुढ़िया के लिये खून-खराबी करायेगा और अभी तेरा उसने खरच ही क्या कराया है। दो जून रोटी खा गयी है, तुझे भी तो टिक्कड़ खिलाकर ही गयी है ?

मौनी का क्रोध भड़कता।

घोट्या का गिर्राज सुना गया था।

जिस वक्त गदल पहुँची, पटेल बैठा था। निहाल ने कहा था—खबर-दार! भीतर पाँव न धरियो! क्यों लौट आयी है ?

पटेल चौंका था। बोला अब क्या लेने आयी है, बहू ?

गदल बैठ गयी। कहा—जब छोटी थी, तभी मेरा देवर लट्ठ बाँध मेरे खसम के साथ आया था। इसी के हाथ देखती रह गयी थी मैं तो। सोचा था मरद है, इसकी छत्तर-छाया में जी लूंगी। बताओ, पटेल, वह ही जब मेरे आदमी के मरने के बाद मुझे न रख सका, तो क्या करती ? अरे, मैं न रही, तो इनसे क्या हुआ ? दो दिन में काका उठ गया न ? इनके सहारे मैं रहती तो क्या होता ?

पटेल ने कहा—पर तूने बेटा-बेटी की उमर न देखी बहू !

—ठीक है, गदल ने कहा—उमर देखती कि इजत, यह कहो। मेरी देवर से रार थी, खतम हो गयी। ये बेटा हैं, मैंने कोई बिरादरी के नेम के बाहर की बात की हो, तो रोककर मुझ पर दावा करो। पञ्चायत में जवाब दूंगी। लेकिन बेटों ने बिरादरी के मुँह पर थूका, तब तुम सब कहाँ थे ?

—सो कब ?—पटेल ने आश्चर्य से पूछा।

—पटेल न कहेंगे तो कौन कहेगा ? पच्चीस आदमी खिला कर टाल दिया मेरे मरद के कारज में !

—पर पगली यह तो सरकार का कानून था।

—कानून था !—गदल हँसी—सारे जग में कानून चल रहा है, पटेल ? दिन-दहाड़े भैंस खोलकर लायी जाती है। मेरे ही मरद पर कानून था ? यों न कहोगे, बेटों ने सोचा, दूसरा अब क्या धरा है, क्यों पैसा बिगाड़ते हो ? कायर कहीं के !

निहाल गरजा—कायर ? हम कायर ? तू सिंघनी ?

—हाँ मैं सिंघनी !—गदल तड़पी—बोल तुझमें है हिम्मत ?

बोल !—वह भी चिल्लाया।

—जा, बिरादरी कारज में न्यौता दे काका के !—गदल ने कहा।

निहाल सकपका गया। बोला—पुलस···

गदल ने सीना ठोंककर कहा—बस ?

—लुगाई बकती है।—पटेल ने कहा—गोली चलेगी, तो ?

गदल ने कहा— धरम-धुरन्दरों ने तो डुबो ही दी। सारी गुजरात ही डूब गयी, माधो। अब किसी का आसरा नहीं कायर-ही-कायर बसे हैं।

फिर अचानक कहा—मैं करूँ परबन्ध ?

—तू ?—निहाल ने कहा।

—हाँ, मैं !—और उसकी आँखों में पानी भर आया। कहा—वह मरते बखत मेरा नाम लेता गया है न, तो उसका परबन्ध मैं ही करूँगी।

मौनी आश्चर्य से था। गिर्राज ने बताया था कि कारज का जोरदार इन्तज़ाम है। गदल ने दरोगा को रिश्वत दी है। वह उधर आयगा ही नहीं। गदल बड़ा इन्तज़ाम कर रही है। लोग कहते हैं, उसे अपने मरद का इतना गम नहीं हुआ था, जितना अब लगता है।

गिर्राज तो चला गया था, पर मौनी में विष भर गया था। उसने उठते हुये कहा—तो गदल ! तेरी भी मन की होने दूँ, सो गोला का मौनी नहीं। दरोगा का मुंह बन्द कर दे, पर उससे भी ऊपर एक दर्बार है। मैं कस्बे में बड़े दरोगा से शिकायत करूँगा।

८

कारज हो रहा था। पाँतें बैठतीं, जींवतीं, उठ जातीं और कढ़ाव से पुए उतरते।

बाहर मरद इन्तजाम कर रहे थे, खिला रहे थे। निहाल और नरायन ने लड़ाई में मँहगा नाज बेचकर जो घड़ों में नोटों को चाँदी बनाकर डाला था, वह निकली और बौहरे का कर्ज़ चढ़ा। पर डाँग में लोगों ने कहा—गदल का ही बूता था। बेटे तो हार बैठे थे। कानून क्या बिरादरी से ऊपर है ?

गदल थक गई थी। औरतों में बैठी थी। अचानक द्वार में से सिपाही सा दीखा। बाहर आ गयी। निहाल सिर झुकाये खड़ा था।

—क्या बात है, दीवानजी ?—गदल ने बढ़कर पूछा।

स्त्री का बढ़कर पूछना देख दीवान सकपका गया।

निहाल ने कहा—कहते हैं कारज रोक दो।

—सो कैसे ?—गदल चौंकी।

—दरोगाजी ने कहा है।—दीवानजी ने नम्र उत्तर दिया।

—क्यों ? उनसे पूछकर ही तो किया जा रहा है।—उसका स्पष्ट संकेत था कि रिश्वत दी जा चुकी है।

दीवान ने कहा—जानता हूँ, दरोगाजी तो मेल-मुलाकात मानते हैं, पर किसी ने बड़े दरोगाजी के पास शिकायत पहुँचायी है, दरोगाजी को आना ही पड़ेगा। इसीसे उन्होंने कहला भेजा है कि भीड़ छाँट दो। वर्ना कानूनी कार्यवाई करनी ही पड़ेगी।

क्षण भर गदल ने सोचा। कौन होगा वह? समझ नहीं सकी। बोली—दरोगाजी ने पहले नहीं सोचा था यह सब, अब बिरादरी को उठा दें? दीवानजी, तुम भी बैठकर पत्तल परोसवा लो। होगी सो देखी जायगी। हम खबर भेज देंगे, दरोगा आते ही क्यों हैं? वे तो राजा हैं।

दीवानजी ने कहा—सरकारी नौकरी है। चली न जायेगी? आना ही होगा उन्हें।

—तो आने दो!—गदल ने चुभते स्वर से कहा—आदमी का वचन एक बार का होता है। हम बिरादरी को नहीं उठा सकते।

नरायन घबराया। दीवानजी ने कहा—सब गिरफ्तार कर लिये जायँगे। समझी! राज से टक्कर लेने की कोशिश न करो।

अरे तो क्या राज बिरादरी से ऊपर है?—गदल ने तमककर कहा—राज के पीसे तो आज तक पिसे हैं, पर राज के लिये धरम नहीं छोड़ देंगे, तुम सुन लो! तुम धरम छीन लो, तो हमें जीना हराम है!

गदल पाँव धमाके से धरती चली गयी।

तीन पाँतें और उठ गयीं, अन्तिम पाँत थी।

निहाल ने अँधेरे में देखकर कहा—नरायन, जल्दी कर। एक पाँत बची है न?

गदल ने छप्पर की छाया में से कहा—निहाल!

निहाल गया।

—डरता है?—गदल ने पूछा।

सूखे होठों पर जीभ फेरकर उसने कहा—नहीं।

—मेरी कोख की लाज करनी होगी तुझे।—गदल ने कहा—तेरे काका ने तुझको बेटा समझ कर अपना दूसरा ब्याह नामन्जूर कर दिया था। याद रखना, उसके और कोई नहीं।

निहाल ने सिर झुका लिया।

भागा हुआ एक लड़का आया।

—दादी!—वह चिल्लाया।

—क्या है रे?—गदल ने सशङ्क होकर देखा।

पुलिस हथियारबन्द होकर आ रही है।

निहाल ने गदल की ओर रहस्य-भरी दृष्टि से देखा।

गदल ने कहा—पाँत उठने में ज्यादा देर नहीं है।

—लेकिन वे कब मानेंगे ?

—उन्हें रोकना होगा।

—उनके पास बन्दूकें हैं।

—बन्दूकें हमारे पास भी हैं, निहाल।—गदल ने कहा—डांग में बन्दूकों की क्या कमी ?

—पर हम फिर क्या खायेंगे !

जो भगवान देगा।

बाहर पुलिस की गाड़ी का भोंपू बजा। निहाल आगे बढ़ा। दरोगा ने उतरकर कहा—यहाँ दावत हो रही है ?

निहाल भोंवक रह गया। जिस आदमी ने रिश्वत ली थी, अब वह पहचान भी नहीं रहा था !

—हाँ। हो रही है।—उसने क्रुद्ध स्वर में कहा।

—पचीस आदमी से ऊपर हैं ?

—गिनकर हम नहीं खिलाते, दरोगाजी।

—मगर तुम कानून तो नहीं तोड़ सकते ?

—कानून राज का कल का है, मगर बिरादरी का कानून सदा का है, हमें राज नहीं लेना है, बिरादरी से काम है।

—तो मैं गिरफ्तार करूँगा।

गदल ने पुकारा —निहाल !

निहाल भीतर गया !

गदल ने कहा—पंगत खतम होने तक इन्हें रोकना ही होगा !

—फिर ?

—फिर सब को पीछे से निकाल देंगे। अगर कोई पकड़ा गया, तो बिरादरी क्या कहेगी ?

—पर ये वैसे न रुकेंगे। गोली चलायेंगे।

—तू न डर। छत पर नरायन चार आदमियों के साथ बन्दूकें लिये बैठा है।

निहाल काँप उठा। उसने घबराये हुए स्वर से समझाने की कोशिश की—हमारी टोपीदार हैं, उनकी रफल हैं।

—कुछ भी हो, पंगत उतर जायगी।

—और फिर ?

—तुम सब भागना।

—हटात् लालटेन बुझ गयी।

धायँ-धायँ की आवाज़ आयी। गोलियाँ अन्धकार में चलने लगीं।

गदल ने चिल्लाकर कहा—सौगन्ध है, खाकर उठाना।

पर सब को जल्दी की फिकर थी।

बाहर धायँ-धायँ हो रही थी। कोई चिल्लाकर गिरा।

पाँत पीछे से निकलने लगी।

जब सब चले गये, गदल ऊपर चढ़ी निहाल से कहा—बेटा।

उसके स्वर की अखंड ममता सुनकर निहाल के रोंगटे उस हलचल में भी खड़े हो गये। इससे पहले कि वह उत्तर दे, गदल ने कहा—तुझे मेरी कोख की सौगंध है। नरायन को और बहू-बच्चों को लेकर निकल जा पीछे से।

—और तू?

—मेरी फिकर छोड़! मैं देख रही हूँ तेरा काका मुझे बुला रहा है।

निहाल ने बहस नहीं की। गदल ने एक बन्दूक वाले से भरी बन्दूक लेकर कहा—चले जाओ सब, निकल जाओ।

सन्तान के मोह से जकड़े हुये युवकों को आपत्ति ने अन्धकार में विलीन कर दिया।

गदल ने घोड़ा दबाया। कोई चिल्लाकर गिरा। वह हँसी। विकराल हास्य उस अन्धकार में गूँज उठा।

दरोगा ने सुना, तो चौंका। औरत! मरद कहाँ गये! उसके कुछ सिपाहियों ने पीछे से घिराव डाला और ऊपर चढ़ गये। गोली चलायी। गदल के पेट में लगी।

६

युद्ध समाप्त हो गया था। गदल रक्त से भींगीं हुई पड़ी थी। पुलिस के जवान इकट्ठे हो गये।

दरोगा ने पूछा—यहाँ तो कोई नहीं?

—हुज़ूर!—एक सिपाही ने कहा—यह औरत है।

दरोगा आगे बढ़ आया। उसने देखा और पूछा—तू कौन है?

गदल मुस्करायी और धीरे से कहा—कारज हो गया, दरोगाजी। आतमा को शान्ति मिल गयी।

दरोगा ने झल्लाकर कहा—पर तू है कौन?

गदल ने और भी क्षीण स्वर से कहा—जो एक दिन अकेला न रह सका, उसी की····

और सिर लुढ़क गया। उसके होठों पर मुस्कराहट ऐसी ही दिखायी दे रही थी, जैसे अब पुराने अन्धकार में जलाकर लायी हुई···पहले की बुझी लालटेन······

पाताल में संग्राम

राजेन्द्र रघुवंशी

राजेन्द्र रघुवंशी

जन्म—१५ जून १६२०, आगरा।

राजेन्द्र रघुवंशी आगरे की उन गिनी-चुनी हस्तियों में से हैं जो कला को मानव स्वाधीनता के सङ्घर्ष से सम्पृक्त मानते हैं और इसी महत् भावना से अनुप्रेरित होकर लोक संस्कृति के निर्माण में कविता और नाट्य कला के साधनों का उपयोग करते हैं। राजेन्द्र रघुवंशी भारतीय जन-नाट्य-सङ्घ के उन प्रमुख स्तम्भों में से हैं जो अभिनय के द्वारा जन-साधारण की सांस्कृतिक चेतना के उत्थान में प्रयत्नशील हैं और इसके साथ-साथ साहित्य सेवा में भी जुटे हुए हैं।

राजेन्द्र की कविताओं और कहानियों में उनकी अभिनय-प्रियता और उनके सरस व्यक्तित्व का चुभीला हँसोड़पन बहुधा मुखर हो उठता है। आजकल राजेन्द्रजी 'अभिनय' नामक एक मासिक पत्र का सम्पादन कर रहे हैं।

हिन्दी के यशस्वी लेखक स्व० कुँवर हनुमन्त-सिंह रघुवंशी से आपको विरासत में साहित्य-सेवा का वरदान मिला है।

पाताल में संग्राम

[श्री राजेन्द्र रघुवंशी]

धरती से २३१ फीट नीचे पाताल ही तो है। इसी १५ अक्टूबर को २० दिन तक निरन्तर पाताल में मौत से संग्राम करने के बाद हमने सूरज की पहिली किरन देखी। हाड़-हाड़ में बसी हुई शीतलता—सीलन एक झुरझुरी के साथ रफा हो गई, हवा के एक मन्द झौंके ने हमें नई साँस दी और आँखों के आगे घिरे निविड़ अन्धकार को चीर कर चित्र-विचित्र सृष्टि का सौन्दर्य पुतलियों में अङ्कित हो गया। मस्तिष्क को राहत मिली—जिन नाड़ियों ने अपनी हरकत बन्द कर दी थी, वे चञ्चल हो उठीं। हमें विश्वास हो गया, हम अभी जीवित हैं।

आसनसोल बड़ोधेमों कोलियारी की बात है। पिछली २६ सितम्बर हमारे लिए मृत्यु का सन्देश लेकर आयी थी। संयोग की बात है, हम उसके खूनी जबड़ों से बच निकले! खान के मजदूरों का जीवन ही क्या है? उसे तो रोज भूमि के नीचे जीते जी दफना दिया जाता है—और कहा जाता है अपनी कबर अपने हाथों से खोदो। उस दिन २६ सितम्बर को भी ऐसा ही हुआ।

और इस कब्र में दफनाये जाने का मूल्य क्या है? चन्द आने! जिनके लिए हम अपने प्राणों को हर समय हथेली पर लिये खड़े रहते हैं, उसे कौन जाने! संसार के लिये हम सोने से भी अधिक मूल्यवान् उत्पादनकारी चीज कमाते हैं; कोयला—जिससे आज विज्ञान का अस्तित्व कायम है। इसके लिये हम प्राणों को ले जाकर कैद कर देते हैं—पाताल में, ये कौन जानेगा कि केवल चन्द आनों के लिये?

उस दिन तीसरा पहर ही बीता होगा, खान की एक दीवार धँसक गई और बाढ़ का पानी अन्दर घुस आया। बस तीसरे पहर का ध्यान है, उसके बाद नहीं मालूम कब साँझ हुई, कब आधी रात, कब भोर हुई और कब मध्याह्न। बस ऐसा लगता है कि इन बीस तारीखों में दिन आया ही नहीं, एक रात रही—लम्बी रात, कभी न खत्म होने वाली रात, जिसमें पहर होता ही नहीं। गहरी काली रेखा के समान, जिसमें हलका धुँधला होता ही नहीं। ऐसी रात जिसमें चाँदनी नहीं, जिसमें तारे टिमटिमाते नहीं, दीये की बाती

जलती नहीं, महल जगमग होते नहीं। डरावनी अमावस की मीलों लम्बी रात घटाटोप से ढकी हुई, जिसमें हाथ को हाथ नहीं सूझता।

हम केवल ११ व्यक्ति उस पाताल से काली रात का घेरा तोड़ कर निकाल लिए गये हैं—पर अभी १७ और उस कब्र में जीवित हाथ-पाँव पटक रहे हैं। कौन जानता है वे हमारी तरह दिन का उजाला और साफ हवा का आनन्द ले भी सकेंगे या नहीं ?

खुदाबख्श ने पानी की धार को बढ़ते हुए सबसे पहिले देखा था। वह चिल्लाया, "जैनुल, देखो मौत अपनी जीभ लपलपाती हुई बढ़ी चली आ रही है। भागो।"

दूसरे ही क्षण हम जिन्दगी के लिए इधर-उधर भागने लगे। यह पता लगाना मुश्किल था कि पानी कहाँ से आ रहा है। हर मिनट में पानी बढ़ रहा था और लगता था कि हमें डुबाकर ही छोड़ेगा। इसीलिए और व्याकुल होकर हम खान के बोगदों में भाग रहे थे : पानी हमारा पीछा कर रहा था—धड़, धड़ धड़ड़ड़······। यह सब था बिलकुल आँख मिचौनी का सा खेल—पर जीवन और मृत्यु के बीच।

चीरू ने चीख कर कहा, "आखिर कहाँ तक ऐसे भागोगे रज्जाक ! भई जैनुल कोई ऐसी जगह देखो, जहाँ इस बबाल से बचा जा सके।"

मैंने कहा, "ऐसी जगह कहाँ मिलेगी इस पाताल में ? चारों तरफ से घिरे हुये हैं हम—अब कोई राह-रास्ता भी तो नहीं सूझता—कहाँ हैं, कहाँ जा रहे हैं ? जिधर भागते हैं, उधर ही अजगर की तरह जीभ लपलपाता पानी का प्रवाह हमें निगल जाने के लिए पीछे दौड़ पड़ता है।

और इसी तरह हम भागते चले जा रहे थे। चार घण्टे बीत गये। तभी रही-सही उम्मीद पर भी पानी फिर गया। सहसा एक बड़े धमाके की आवाज हुई और बत्तियाँ गुल हो गईं। अब हमारी हालत बदतर थी। चारों ओर घना अन्धकार छा गया—उस लम्बी अँधेरी रात की शुरूआत हो गयी, जिसका खात्मा २० दिन बाद हुआ। २० दिन बाद भी तो केवल हम ११ ही बच सके हैं, १७ तो उस 'रात' के घेरे में ही फँसे हैं। कौन जाने·······

बत्तियाँ बुझ गईं—अब केवल टटोल-टटोल कर हम आगे बढ़ने लगे। अल्लाह का नाम लेने के सिवा अब और कोई रास्ता न था।

यूनुस ने कहा, "भाई जैनुल, क्या यही मौत हमें लिखी है कि आसमान का साया भी न मिले ?"

पानी अब हमारे घुटनों तक चढ़ आया था, चारों ओर पानी ही पानी

था। भागने की कोई जगह न थी। यूनुस की बात सुनकर मैं सहम गया।

फिर भी मैंने कहा—"ये कोई जरूरी नहीं यूनुस कि हम मर ही जायँ। हिम्मत से काम लो। मारने वाले से बचाने वाला जबर्दस्त होता है। हौसला छोड़ दोगे तो कैसे काम चलेगा ? इतना ही क्या कम है कि हम अकेले अकेले नहीं मरेंगे; मरेंगे तो एक साथ।"

नकसू बोला—"भई मैं भी यहाँ मरने के लिये तैयार नहीं। दिवाली पर अपने देश जाऊँगा, बच्चों से कह आया हूँ।"

हमारी बातों से सभी की हिम्मत बँधी—इसका आभास मुझे किसी का चेहरा देखे विना ही मिल गया। सहसा असगर की आवाज आई, "इधर चले आओ, भाई इधर।"

वहाँ जाकर देखा—एक सात फुट ऊँची जगह थी। एक दूसरे को सहारा देकर हम उसी पर चढ़ गये। यूनुस ने साँस भर कर कहा—"तुमने ठीक कहा था जैनुल, मारने वाले से बचाने वाला जबर्दस्त होता है।"

इस वक्त भी यूनुस की आवाज थरथरा रही थी। मैंने जान लिया, वह मेरी बात के बल पर ही अपना साहस सँजो रहा है। कई घण्टों की दौड़ और पानी में भींग जाने के कारण शरीर सुन्न हो रहा था। आँखें खोले रहना भी कठिन लग रहा था। पर, जब इस ऊँची जगह पर भी पानी चढ़ आया और हमारे पाँवों को छूने लगा, तो जैसे हम सब जाग पड़े। नकसू मेरे पास ही था, मैंने धीमे स्वर से उसके कान में कहा—"नकसू अब तो ये सहारा भी गया। पानी यहाँ भी हमें छोड़ेगा नहीं ? बताओ अब क्या करें ?"

"जैनुल भाई, तुम्हारी हिम्मत से ही सबको हिम्मत है। संभाले रहो सबको। मर जायेंगे, पर शिकन न लायेंगे। देखो, तुम कोई कच्ची बात मत कहना बच्चों से मैं कह आया था दिवाली को देश आने की, मुझे तो बस इसी बात का ख्याल है।"

मैंने प्यार से नकसू को गले लगा लिया। थरथराई आवाज में यूनुस ने दिवाली के सपने को तोड़ दिया। वह बोला—"अब कोई उम्मीद नहीं रही भाई। यहाँ भी पानी ने पीछा नहीं छोड़ा, घुटनों तक आ गया। अब आखिरी बार खुदा का नाम ले लो।"

नकसू न जाने सचमुच अपने स्वप्न में डूबा हुआ था या बन रहा था; उसने कहा—'यूनुस, जान जाये तो जाये, पर यार उम्मीद तो आखिरी बखत तक न छोड़ेंगे। हम तो बच्चों से कह आये हैं........'

नहीं मालूम कितनी देर में पानी हमारे सीने तक चढ़ आया। मिनट

और घण्टों का शुमार वहाँ कहाँ, वहाँ तो युग के युग बीत रहे थे। लग रहा था—रफ्ता-रफ्ता हम इस पानी की कबर में दफनाये जा रहे हैं, अब कौन किसको तसल्ली देता कि उम्मीद की किरन बाकी है। पानी चढ़ता ही गया—मृत्यु और जीवन के बीच एक बालिश्त का अन्तर रह गया।

तभी न जाने कैसे एक चमत्कार सा हो गया। पानी ऊँचे चढ़ने के बजाय घटने लगा—घटने लगा—घटने लगा—घटने लगा—!

एक नई आशा लेकर हमने अपनी कोशिश शुरू कर दी। इस बार मानो हम भी पानी का पीछा कर रहे थे, पानी पीछे हटता चला जा रहा था। हम चलते गये—चलते गये—चलते गये—चलते गये।

अब तक बैठने का किसी ने नाम भी न लिया था और न बैठने की चाह ही थी। आदमी बैठता है आराम के लिये, आराम करता है अपने जीवन के लिये—यहाँ जब जीवन का छोर ही न मिल रहा हो तो आराम किस काम का? शरीर की इन्द्रियाँ शनैः शनैः शिथिल हो रही थीं, पर हम यन्त्र-चालित से चलते ही जा रहे थे। मन में साहस था, उसने साथ न छोड़ा था, मात्र यही सन्तोष की बात थी।

यूनुस ने कहा—"जैनूल, पानी से शायद हमारी जान बच गयी पर ये भी हो सकता है कि हम विना रास्ता पाये भटक-भटक कर मर जावें?"

मुझे अब यूनुस पर झुंझलाहट हो आई। उसकी ये बातें हमारी हिम्मत तोड़ने वाली थीं। फिर भी मैंने अपना आवेश दबा कर कहा—'यही होना होगा; तो यही होगा—पर हम अपनी कोशिश में कोताही क्यों करें? एक करिश्मे ने जान बचा दी, चढ़ता हुआ पानी एक दम उतर गया। फिर कोई करिश्मा हो सकता है। और करिश्मा न हो, तो भी क्या है, अगर हम बराबर चलते जायें, चलते जायें तो रास्ता मिल ही जावेगा।"

चीरू बिलकुल रुआँसा होकर बोला, उसका गला रुँध गया था "किस उम्मीद पर चलते जायें—चलते जायें?"

मुझे उस घने अन्धकार में भी अनुभव हो गया कि नकसू ने चीरू का हाथ पकड़ कर अपने कन्धे पर रख लिया था और अपने हाथ का सहारा देकर आगे बढ़ रहा था। नकसू कह रहा था, "दोस्त तुझे मैं इसी तरह जिन्दगी भर लेकर चल सकता हूँ, अपने हाथ का सहारा देकर।"

हमेशा खामोश रहने वाला हाकिम इसी वक्त चिल्लाया, "जैनुल, आगे बढ़ने के लिए सहारा भी मिल गया—ये देखो मेरे पाँव के बीच ट्राली की लाइन!" देववाणी के सदृश हाकिम की ये आवाज़ खान की कई गुफाओं में

लगातार गूँजती रही। इस आवाज ने अँधेरे में भी मेरी आँख खोल दीं। सामने ट्राली की लाइनें बिजली की तरह कौंध गईं। ऐसा लगा कि जैसा किसी सन्त का इलहाम हुआ और स्वर्ग का सीधा मार्ग समाने खुल गया।

एक-एक कर हम सब ट्राली की लाइन पर एकत्रित हो गये। मैंने कहा—"दोस्तो ! अब हमने कामयाबी का छोर पकड़ लिया है। हिम्मत बाँधो, कामयाबी की मञ्जिल हमसे दूर न रहेगी।"

"सच है, अब हम अगर इन्हीं लाइनों के सहारे-सहारे आगे बढ़ते जायें तो खान के मुंह के पास पहुँच जायेंगे।" नकसू ने कहा—लाइन के सहारे-सहारे हम नए जोश-खरोश से आगे बढ़ने लगे। हमारा जोश-खरोश निस्सन्देह ऐसा ही था जैसे कटोरे के पानी का उबाल और यह भी एक ख्याली उम्मीद के सहारे विना आँच के ही बल दे रहा था। हमें यह पता लगाना मुश्किल था कि इस पाताल में कितने दिन बीत गये। पानी के सिवा दूसरा कोई सहार न था। भूख ने कमर तोड़ दी थी, ठण्डक से शरीर सिहर रहा था—कीचड़ में पाँव फँस-फँस कर चलने ही न देते थे।

ऐसे ही चलते-चलते न जाने कितने दिन बीत गये—उगी हुई आशा धीरे-धीरे डूबने लगी। फिर भी चलते रहे, चलते नहीं, तो करते क्या, एक जगह पड़े रह कर भी निस्तारा न था। जब शरीर बेकाबू हो जाता तो वहीं कीचड़ में पड़कर सो रहते। अब सभी अनुभव करने लगे थे कि उनकी आखिरी घड़ी आ पहुँची है। पर न जाने किस आशा से उस मौत की अवहेलना करके उठ खड़े होते और आगे बढ़ने लगते।

यूनुस की हालत अब ज्यादा खराब हो गई थी। उसने कहा, "अब मैं नहीं चल सकूँगा। एक कदम भी नहीं। नकसू भी मेरा साथ छोड़ गया। और चलूं भी तो कहाँ तक—मरना है ही, इस कदम पर या दो-चार कदम और चल कर। पड़ा रहने दो मुझे यहीं, मैं भी नकसू की तरह सोना चाहता हूँ।"

यूनुस की आखिरी बात से मेरे कान खड़े हुए—क्या कहा नकसू सोता रहा। मैंने जर्जर वृक्ष की तरह खड़खड़ा कर पूछा—"तो तुमने मुझसे क्यों नहीं कहा क्यों छोड़ दिया पीछे ?"

किसी के पास कोई उत्तर न था। यूनुस ही बोला—मुझे भी तो तुम यों हीं छोड़ जाओगे, जब एक कदम भी न चल सकूँगा। "नहीं तुम्हें मैं ले चलूंगा।" यूनुस को कन्धे पर ले लिया और फिर आगे बढ़ने लगा। मन करता था लौटकर जाकर नकसू को उठा लाऊँ। पर जा सकता।""""रह रह उसका

वह वाक्य कानों में गूंज जाता कि दिवाली पर'''बच्चों से कह आया हूँ।

मुझे लग रहा था, मेरे कंधों पर नकसू की लाश थी। मुझे लग रहा था, कल दीवाली थी और आज मैं नकसू को उसके बच्चों के पास उसके घर ले जा रहा था। मेरे पाँव खुद लड़खड़ा रहे थे सही, पर नकसू की बलवती आकांक्षा मुझे प्रेरणा दे रही थी।

हमारे ऊपर पृथ्वी पर क्या कुछ हो रहा था, इसका उस समय ध्यान न था। हमारी तलाश में वहाँ जोरदार कोशिश हो रही थी। एक दिन भी लोगों ने अपने प्रयत्न को न छोड़ा। हमें यह क्या मालूम! हम तो यही समझ रहे थे कि लोग हमें मरा हुआ मान चुके होंगे। हमें कितने दिन बीत चुके हैं। हमारी झोंपड़ियों में अंधेरा होगा—घर वाले जीते ही मरने की कल्पना कर रहे होंगे।

प्रकृति से हमें कितना प्यार होता है, उसका पता पृथ्वी के नीचे रह कर लगा। बुलबुल कितनी मीठी बोलती है, चमेली के फूल भी भीनी महक देते हैं, मोर कैसा सुहावना लगता है—ये सब हमारे परिवार के नहीं होते, पर कितने प्यारे लगते हैं। दीपक की एक मध्य लौ घने अँधेरे को काट देती है और लगातार उसकी पंक्तियाँ दीपावली की अमावस्या को जगमग कर देती हैं। नकसू की याद कर मन कचोट उठा। पाताल में यह सब कुछ नहीं होता—इन चीजों की याद भी नहीं आ सकती थी, ये सब तो नकसू की याद ने स्मरण करा दीं। उस समय तो एक ही याद करने की चीज थी—खान का मुँह, कि ये लाइनें हमें उस तक ले जा सकती हैं, पहुँचेंगे या नहीं, इसका निश्चय कठिन था। कल्पना भी दुर्लभ थी।

यासिन ने अपनी जगह बैठे-बैठे कहा, "मैं अपने शरीर पर हाथ फेरता हूँ, तो ऐसा लगता है, जैसे किसी बेजान चीज को टटोल रहा हूँ।"

असगर बोला, 'अब है ही क्या जिस्म में बाकी? बाहर पहुँचने की पहले तो कोई उम्मीद ही नहीं और अगर पहुँच भी गये तो यह शरीर किस काम का? हड्डी-हड्डी में तो सीलन बस गई है।

मैंने बड़ी मुश्किल से करवट ली। महसूस हुआ जैसे मेरे कान बोल रहे हैं। फिर कुछ आहट हुई—धीरे-धीरे मैं समझ गया कि यह भाफ और बैल्ट की आवाज है। एक साथ सभी बोल पड़े, "मदद पहुँचाने वाला दल काम कर रहा है।"

मैंने कहा, "भाइयो, हम अब बच सकते हैं। अगर इनकी आहट हमें

सुनाई दे सकती है तो हमारी आवाज भी वहाँ पहुँचेगी। आओ, हम सब खूब जोर लगाकर चिल्लायें।"

और फिर हम सब मिलकर पुकारने लगे। इस आशा के क्षण में निराशा का भाव भी जाना—कहीं हमारी आवाज उन तक न पहुँची तो ?

किन्तु निराशा का अवसर न आया। हमारी आवाज उन तक पहुँच गई, हम बचा लिये गए। पर केवल ११ व्यक्ति, हमारे साथ का नकसू भी हमारे बीच में न रहा। दीवाली को देश जाने की उसकी लालसा अधूरी रह गई।

और १७ व्यक्ति भूमि के नीचे आज भी जीवन के लिये रेंग रहे होंगे---कौन जाने उन्हें अभी ट्राली की लाइन मिली या नहीं। हिम्मत उन्होंने भी हारी नहीं होगी—क्योंकि दीपों की बत्तियाँ नकसू के साथ उनका भी उत्सुकता से इन्तजार कर रही हैं।

———

तफ़तीश और रिपोर्ट
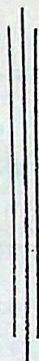
राजेन्द्र कुशवाहा

राजेन्द्र कुशवाहा

जन्म—१७ दिसम्बर १९३२, जिला इटावा।

कुशवाहा का बचपन और कैशोर्य बड़ा ही एड-वेन्चरिस्ट रहा है और उनके जीवन में ही अनेक ऐसी घटनाएँ घट गई हैं जो अपने आप में ही सुन्दर कहानी का प्लाट हैं।

आपकी पहिली कहानी 'तावीज़' 'कहानी' मासिक में प्रकाशित हुई थी। उसने ही हिन्दी जगत में तहलका मचा दिया। उस पर किसी अन्य लेखक की नकल का आरोप किया गया, पर सब झूँठ, और वह कहानी आपकी पहिली रचना होते हुए भी आपकी श्रेष्ठ कहानियों में गिनी जाने योग्य हैं। सबको बहुत पसन्द आई। तब से ही आपकी कहानियाँ निरन्तर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होतीं रहती हैं।

आपका एक कहानी संग्रह 'जहरबाद' भी विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा से हाल ही में प्रकाशित हुआ है।

———

तफतीश और रिपोर्ट

[श्री राजेन्द्र कुशवाहा]

सारे गाँव में यह खबर कि दरोगाजी, कप्तान साहब और न जाने कोन-कौन हुक्काम तफतीश को आये हुये हैं बिजली की तरह फैल गई। और फिर आयें भी क्यों न किसी मामूली आदमी के घर तो चोरी हुई नहीं थी। जमीदारियाँ चली गईं तो क्या हुआ, डेढ़ हजार बीघे का फार्म, शहर की कोठियाँ और सवाए पर उठा रुपया तो कहीं नहीं गया।

बड़ी हवेली वालों का अब भी वही दौर-दौरा था। पहिले राजा बहादुर थे और अब पदम विभूषण बनने का पूरा प्रयत्न कर रहे थे। दौरे पर आये हुये प्रत्येक मन्त्री और छोटे-बड़े अफसर सब उनके महमान बनते थे।

'बड़ी हवेली वालों के यहाँ चोरी हुई' गृहमन्त्री तक यह समाचार पहुँच गया था। सीनियर सुपरिन्टैन्डैन्ट पुलिस, सर्किल इन्सपैक्टर, थाना इन्चार्ज आदि सब तफतीश के लिये आये हुये थे।

बड़ी हवेली के बाग में छोटा सा दरबार लग गया। शक में बुलाये गये 'फतहपुर रामू' के और आसपास के लोग एक कतार में सामने बैठा दिये गये। थाना इन्चार्ज जगदीश्वरसिंह और सब इन्सपैक्टर महावीरसिंह के लिये दो आराम कुर्सियाँ पड़ गईं और उन्हीं के पास एक मेज और कुर्सी हेड मुन्शी के लिये भी डाल दी गई।

छोटे दरोगाजी ने हर एक से सवाल पूछने शुरू किये, बड़े दरोगाजी सिगरेट के कश लगाते हुये बड़े गौर से सवाल और जवाबों को सुनने लगे। हैड मुन्शी बड़ी तत्परता से बयानों को कलमबन्द करने लगे।

छोटे दरोगाजी ने अपनी आफीसरी आवाज से पूछा—

"क्या नाम है तेरा ?"

"झींगुरिया"

दरोगाजी चौंक से गये अभी तक हर एक ने उन्हें अपना नाम बतलाने से पहले सरकार और हजूर जैसे विशेषणों से सम्बोधित किया था। इस छोटे उत्तर के लिये वे तैयार न थे—बड़े दरोगाजी ने सिगरेट को एक ओर फेंकते हुए और कुर्सी पर जरा सँभल कर बैठते हुए झींगुरिया को आँखें गढ़ा कर

देखना शुरू किया। रंग गेहुँग्रा, गोल और भरा चहरा, ऊँचा ललाट, घुँघराले बाल, सब मिलाकर एक जँचता हुआ व्यक्तित्व था। बदन पर और लोगों से साफ कपड़े भी पहने हुए था।

छोटे दरोगाजी ने होठों को दाँत से काटते हुए फिर पूछा—

"कौन जात ?"

"हिन्दू" वही छोटा सा जवाब मिला। दरोगाजी ऐसे उत्तरों के अभ्यस्त न थे। उनकी आँखों में लाल डोरे आ गये, भौंहें तन गईं, बदन काँपने लगा और फिर अश्लीलतम गाली देते हुये बोले—"अबे······हिन्दू तो सब हैं।"

"ये गालियाँ तो आप अपने मातहतों के लिए ही रखिए।"

दरोगाजी ने अपनी दस साल की नौकरी में कभी इस प्रकार का उत्तर न सुना था। एक झटके के साथ वे कुर्सी पर से उठ बैठे पर झींगुरिया के चहरे पर की दृढ़ता और कुर्त्ते में से निकले कसरती सीने को देख कर कुछ ठिठक गये पर तभी पास में खड़े आठ दस सिपाही एक दम झींगुरिया पर टूट पड़े। दरोगाजी ने भी आगे बढ़ कर एक हाथ कस कर मुँह पर मारा और एक ठोकर पेट में दी। झींगुरिया गिर पड़ा, उसके दोनों हाथ पीछे बाँध दिये गये। दरोगाजी ने पाँच-सात लातें और मारते हुए कहा—

"सालों के दिमाग तो देखो इस सरकार ने कितने चढ़ा दिये हैं—चोरी करते हैं और सीना जोरी करते हैं। स्वराज्य क्या हुआ किसी को कुछ समझते ही नहीं। अभी लो माल कबूल करता है।·········अरे जोरावर, रामदयाल, लालसिंह साले का हवाई जहाज तो बनाओ।

झींगुरिया के मुँह में से खून निकलने लगा था, आँखें जल रही थीं, पर वह बोला कुछ नहीं केवल अपने पीछे बँधे हाथों को ऐंड़ने लगा।

दरोगाजी की आज्ञा सुन दो सिपाही एक छोटी खाट को ले आये। झींगुरिया को लाकर खाट के सिरे पर खड़ा कर दिया और उसके एक पैर को एक पाये से और दूसरे को दूसरे पाये से बाँध दिया। चार सिपाहियों ने मिल कर उसे झुका दिया और उसके हाथ खोल कर दूसरे सिरे के दोनों पायों से बाँध दिये। झींगुरिया ने भी किसी प्रकार का विरोध न किया, वह भली भाँति जानता था कि सौ को सती क्या कर सकती है।

दरोगाजी उठ कर उसके पास गये और उसके सिर के बालों को पकड़ कर झटका देते हुए बोले—'क्यों बे······माल बतलाएगा या नहीं। झींगुरिया जानता था कि यह सवाल तो केवल पिटाई का बहाना मात्र है, अतः वह

चुप रहा—दरोगाजी ने एक ठहाका मारते हुए सिपाहियों की ओर देखते हुए फिर कहा—

"जरा हवाई जहाज को चालू तो करना। साले के अभी दिमाग ठीक होते हैं।"

इतना कहना था कि बारी-बारी से सिपाही खाट में उल्टे बँधे झींगुरिया को पीछे से ठोकरें मारने लगे, हर ठोकर पर झींगुरिया के मुँह से केवल ऊह की आवाज निकलती और वह छोटे-बड़े दरोगाजी के ठहाकों में विलीन हो जाती।

२

शाम हो गई थी। दिन भर मुनियां झींगुरिया की राह देखती रही आज उसको न जाने क्यों रह-रहकर खिजलाहट आती। उसे न तो आज भूख ही लगी थी और न किसी काम में उसका मन ही लग रहा था।

रह-रहकर वह खीझ उठती "यही समय है यदि किसान ने मेहनत न की तो बस पेट से पत्थर बाँधने पड़ेंगे, और आज न जाने वह कहाँ चला गया है अपनी खिजलाहट वह छोटे-छोटे बच्चों पर उतारती, गोद का तीसरा मासूम बच्चा भी उसकी झुँझलाहट का पात्र बन जाता।

झींगुरिया और मुनियाँ का जोड़ा फतहपुर रामू में तो क्या आस-पास तक प्रसिद्ध था। उन्हें देखकर उनकी जाति वालों के दिलों पर तो साँप लोटता ही था और जाति वाले भी सदैव ईर्षा करते थे। उन दोनों का अपना सीमित संसार था, झींगुरिया, मुनियाँ तीन साल का बड़ा लड़का, [illegible] छोटा तथा तीन मास की मासूम बच्ची, बस इतने में ही वे सीमित [illegible] किसी ने यह नहीं सुना कि आज दोनों में कुछ अनबन हुई। [illegible] नत करते और चैन से रहते, न ऊधों का लेना न माधो का देना। [illegible] बात की परवाह न थी। उनकी यही मस्ती औरों को ईर्षा का कारण बनी हु[illegible]

जब शाम तक झींगुरिया लौट कर न आया तो मुनियाँ के हृदय में एक अज्ञात-सी शंका धीरे-धीरे उठने लगी। तभी पड़ौस का लड़का भागा-भागा आया और मुनियाँ से घबड़ाते हुए बोला—"चाची! चाची!! चाचा को बड़ी हवेली में पुलिस वाले बहुत मार रहे हैं।"

मुनियाँ को जैसे हजार बिच्छुओं ने डङ्क मार दिया—सर्दियों के दिनों में भी माथे पर पसीना आ गया। दो मिनट तक तो वह आँखें फाड़े दिवाल की ओर चुप-चाप देखती रही और फिर यकायक उठकर गोद में बच्ची को ले बड़ी तेजी से दरवाजे में से निकल कर बड़ी हवेली की ओर चल दी—बड़े

लड़के ने तोतली आवाज में पूछा—

"माँ ! काँ···जा···ल···ई···ओ ?"

मुनियां ने कोई उत्तर न दिया और न फिरकर देखा ही, जैसे उसने कुछ सुना ही नहीं ।

३

लगभग एक घन्टे तक झींगुरिया पर ठोकरें पड़ती रहीं । दरोगाजी ने कल्पना की थी कि झींगुरिया रोयेगा, तड़फेगा, चिल्लायेगा और माँफी माँगेगा, पर झींगुरिया के मुँह से आवाज तक न निकली । पीछे ठोकरें पड़ते-पड़ते मुँह से खून टपकने लगा था । एक सिपाही ने जो झींगुरिया की पथराई हुई आँखें देखीं तो वह घबड़ा गया और दरोगाजी से डरी हुई सी आवाज में बोला—अब मार मत लगवाइये, कहीं साला मर न जावे ।

दरोगाजी ने उसी प्रकार हँसते हुए कहा—साला मक्कर बनाता होगा । दरोगाजी उठकर झींगुरिया के पास गये, ठोड़ी में एक लात मारी उसकी गरदन एक ओर को लुढ़क गई, झींगुरिया की आखें फट गईं थीं, मुँह और नाक से खून टपक रहा था, चहरा स्याह पड़ गया था । दरोगाजी हड़बड़ाकर पीछे हट गये और उसी घबराहट भरे स्वर में कतार में बैठे लोगों से बोले—"आप लोग घर जा सकते हैं, मुलजिम हमें मिल गया है । आप लोगों को हमने जो तक़लीफ दी उसके लिए आप हमें माफ करें ।"

जब सब लोग चले गये तो छोटे दरोगाजी ने बड़े दरोगाजी के कान में कुछ कहा । बड़े दरोगाजी के चेहरे का रङ्ग भा एकदम बदल गया । दोनों झींगुरिया के पास आये । छोटे दरोगाजी के पैर काँपने लगे, माथे पर पसीना आ गया । उनकी झींगुरिया को छूने तक की हिम्मत न पड़ी । बड़े दरोगाजी ने झींगुरिया की नाक पर हाथ रखा और घबड़ा कर पीछे उठते हुए पास खड़े सिपाही से कहा—"इसके हाथ पैर सब खोल दो, मुँह पर जरा पानी तो डालो ।"

झींगुरिया के हाथ-पैर खोल दिये गये । चार सिपाहियों ने उठा कर उसे जमीन पर लिटा दिया—बड़े दरोगाजी ने डाटते हुए से कहा, "यहाँ नहीं अन्दर कमरे में ले जाओ, सब के चहरों की हवाइयाँ उड़ी हुई थीं ।

सिपाहियों और दोनों दरोगाजीयों का घबड़ाहट के मारे बुरा हाल था । बार-बार वे अपने ओठों पर जीभ फेरते और माथे पर से पसीना पौंछते । सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब का शिकार से लौटने का समय हो चला था । उनकी समझ में न आया था कि क्या किया जाय ।

जीप की आवाज सुनाई दी। घबड़ाहट और भी बढ़ गई। जीप में से सुपरिन्टैन्डैन्ट साहब, सर्किल इन्सपैक्टर और बड़ी हवेली वाले ठाकुर विक्रमसिंह आदि उतरे। जीप में मरा हुआ एक हिरन रखा हुआ था। ठाकुर साहब ने चौकीदार को आवाज लगाई और हिरन को उतारने की आज्ञा दी। चारों ओर एक अजीब प्रकार का सन्नाटा था। सिपाहियों और दरोगाओं के चहरे फक पड़े हुए थे, आखिर सुपरिन्टैन्डैन्ट साहब ने पूछा—

"क्या बात है ?"

पर किसी ने जुबान तक न हिलाई. दुबारा फिर कड़क कर पूछा—

"आखिर क्या बात है दरोगाजी।"

"हुजूर····" बड़े दरोगाजी ने कुछ कहने की कोशिश की। "हुजूर क्या ? साफ क्यों नहीं बोलते। क्या बाप मर गया है ?"

"जी······" फिर बड़े दरोगाजी ने कहने का प्रयत्न किया।

"जी जी–जीजा क्या ? साफ क्यों नहीं बोलते ?"

"हुजूर मैं आप से कुछ अकेले में कहना चाहता हूँ।" आखिर बड़ी हिम्मत करके बड़े दरोगाजी ने कह ही दिया।

सुपरिन्टैन्डैन्ट साहब और दरोगाजी एक ओर को हट गये। दरोगाजी थोड़ी देर तक कुछ कहते रहे और फिर सुपरिन्टैन्डैन्ट साहब के पैरों पर गिर पड़े।

सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब के चहरे का रंग भी एकदम बदल गया। ठाकुर साहब, सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब और दरोगाजी झींगुरिया को देखने कमरे में गये तो झींगुरिया को देख ठाकुर साहब के औसान जाते रहे।

सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब ठाकुर साहब को बड़ी दिलासा देते हुए बोले—"ठाकुर साहब आप कोई फिक्र न कीजिये अभी सब मामला ठीक हुआ जाता है।"

"और तो मुझे कोई डर नहीं पर इसकी औरत को आप नहीं जानते, मुझे केवल उसी ओर से डर है।" ठाकुर साहब बड़े घबराये हुए बोले।

"उसको मैं ठीक कर लूँगा, ऊपर की आप ठीक करलें, और फिर सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब दरोगाजी की ओर मुँह करके बोले, "मुझे तो इन दरोगाओं पर गुस्सा आता है, सालों को इतनी भी लियाकत नहीं कि काम किस तरह करना चाहिये, और तिस पर दरोगाई करने चले हैं।"

दरोगाजी नीची निगाहें करे खड़े रहे, बाहर से एक नारी कंठ सुनाई पड़ा·····पाँओं पड़ती हूँ तुम्हारे······कहाँ हैं वह, बता भर दो मैं दरोगाजी

के और कप्तान साहब के पैरों पड़कर उन्हें छुड़ा लूँगी—उन्होंने किसी का कुछ नहीं बिगाड़ा, उनकी जगह मुझे पीट लो, मुझे जेल भेज दो, जो चाहो सो करो बस उन्हें छोड़ दो, पाँओं पड़ती हूँ तुम्हारे, बता दो कहाँ हैं वह……"

"अब क्या होगा सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब जिसका मुझे डर था वही हुआ मुनियाँ आगई……" ठाकुर साहब ने घबड़ाते हुये कहा।

"सब ठीक हो जावेगा, आप बिलकुल न घबड़ाइए—सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब ने दिलासा दिलाते हुए कहा।

सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब दरोगाजी को कमरे के एक कौने में ले गये और धीरे-धीरे कुछ समझाया। दरोगाजी एक कदम पीछे हटे और सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब को सैलूट देकर कमरे के बाहर निकल आये। ठाकुर साहब और सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब हवेली के अन्दर चले गये।

४

दरोगाजी जैसे ही बाहर आये मुनियाँ ने गोद की मासूम बच्ची को उनके पैरों पर डाल दिया और स्वयं ने भी उनके पैर पकड़ लिये। एक बार को दरोगाजी का भी दिल काँप उठा पर दूसरे ही क्षण अपने को स्वस्थ कर बोले—"तुम झींगुरिया की औरत हो क्या ?"

"हाँ माई-बाप, कहाँ है वह, उसे कहीं अधिक तो नहीं मारा आपने—कैसे बताऊँ आपको, उसका किसी में कोई हाथ नहीं। उसे खुशामद करनी नहीं आती सरकार। इसीलिये सब का बुरा है और जरा तेज स्वभाव का है—अगर आप से कुछ कह दिया हो तो मुझे मार लीजिये, मुझे जेल भेज दीजिये जो चाहें सो कीजिये मेरे छोटे-छोटे तीन बच्चे हैं, उन पर जरा दया कीजिये, मेरा कोई नहीं है, मैं लुट जाऊँगी, मैं कहीं की न रहूँगी…"मुनियाँ ने दरोगाजी के दोनों पैर कस कर पकड़ लिये थे वह फफकती जा रही थी और कहती जा रही थी––।

"तू क्यों इतना घबड़ाती है, वह ठीक है, बस सुबह तक छोड़ दिया जायगा। तू खुद अपनी आँखों से देख लीजियो लेकिन एक शर्त पर।"

"सरकार सभी शर्तें मंजूर हैं।"

मुनियाँ ने दरोगाजी के पैरों पर पड़ी रोती हुई बच्ची को उठाते हुये और धोती के छोर से अपने आँसुओं को पोंछते हुए कहा।

"जा तू एक थाली में उसके लिये खाना ले आ। वह दिन भर का भूखा है। तू अपने हाथ से ही खाना दे दीयो, तब तो तुझे तसल्ली हो जावेगी। लेकिन शर्त यह है कि तु उससे बात नहीं करेगी, उसके कमरे के पास वाले कमरे में

ही साहब हैं अगर उन्हें इस बात की भनक भी पड़ गई कि तू झींगुरिया से मिलने आई है तो बस मुझे नौकरी से हाथ धोना पड़ जायगा। आखिर मेरे भी तो बाल-बच्चे हैं।"

"बस सरकार मैं देख भर लूँ। आप विश्वास रखिए मैं बोलूँगी नहीं। भगवान करे आपकी तरक्की दिन दूनी रात चौगुनी हो···"कहते-कहते मुनियाँ ने अपना माथा दरोगाजी के पैरों पर टेक दिया।

बस-बस-बस तू जल्दी से एक थाली में खाना ले आ। दरोगाजी ने अपने पैरों को पीछे हटाते हुये कहा—

बड़े दरोगाजी छोटे दरोगाजी के पास गये और सुपरिन्टेण्डेण्ट साहब की सारी योजना उन्हें समझा दी। दरोगाजी का चहरा खिल सा गया।

छोटे दरोगाजी झींगुरिया के कमरे में आये। झींगुरिया की शक्ल देखते ही फिर काँप उठे, बड़ी हिम्मत कर उसे उठाया और उसे उकड़ू बैठाल दिया और स्वयं उसकी पीठ को पकड़ उसके पीछे बैठ गये। बड़े दरोगाजी ने छोटे दरोगाजी और झींगुरिया को एक ही कम्बल में इस प्रकार से लपेट दिया कि ऐसा लगता कि मानो झींगुरिया उकड़ू बैठा है।

५

मुनियाँ को खाना लाते देर न लगी। बाहर खड़े बड़े दरोगाजी भी उसका इन्तजार कर रहे थे। मुनियाँ को देखते ही बोले—

"चलो मेरे साथ अन्दर चलो पर देखो उससे बोलना बिल्कुल नहीं।" मुनियाँ ने उत्तर में केवल सिर हिला दिया।

कमरे में यद्यपि एक दिया रखा टिमटिमा रहा था पर उसका प्रकाश इतना न था कि कमरे की प्रत्येक वस्तु साफ दिखलाई पड़े। मुनियाँ ने देखा कमरे के कौने में एक बण्डल सा रखा है। काँपते हुए कदमों से वह उस ओर बढ़ी। दिये के क्षीण प्रकाश में उसने झींगुरिया के चहरा को देखने का प्रयत्न किया। उसका दिल काँप उठा। एक ओर को झुकी गर्दन, पथराई सी आँखें, स्याह चहरा। वह झींगुरिया को पकड़ कर हिलाने वाली ही थी कि सहसा उसकी गोद की बच्ची एक चीख मार कर रो उठी। लपक कर दरोगाजी ने उसकी बाँह पकड़ ली और दरवाजे की ओर उसे खींच लाये।

बाहर गाँव के एक दो आदमी और खड़े हुए थे, दरोगाजी ने मुनियाँ को फटकारते हुये कहा—

"तू तो मुझे नौकरी से हाथ धुलवा कर ही पीछा छोड़ेगी। बच्ची को इन्हीं लोगों को दे जाती। साहब का सख्त हुक्म है कि झींगुरिया से कोई न मिले।

तुझसे भी कह दिया था कि बस तू खाना रख आ पर तू तो वहाँ बैठी ही रह गई। सुबह उसे जी भर कर देख लीजियो। सुबह मैं कैसे ही न कैसे छुड़वा दूँगा, पर तुम लोग दया करने लायक नहीं।"

मुनियाँ की निगाहें नीची झुकी हुई थीं, उसकी आँखों के सामने वही एक ओर को झुकी गरदन, पथराई आँखें और स्याह चहरा नजर आ रहा था। गाँव वाले एक साथ बोल उठे—"अजी आप इसका कसूर माँफ करें, यह तो बिल्कुल पगला है। आप सुबह्ह झींगुरिया को छुड़वादें। हम सब जानते हैं कि झींगुरिया किसी फन में नहीं है। वह अक्खड़ जरूर है।"

"देखो भाई लोगो मैं अपनी कोशिश में तो कोई कसर नहीं छोड़ूँगा, आगे भगवान् जाने।"

अन्दर कमरे में से थाली खटकने की आवाज़ आई। "जा तू थाली उठा ला लेकिन अब मैं तुझे उसके पास न जाने दूँगा" दरोगाजी ने मुनियाँ से कहा।

थाली कमरे के दरवाजे पर ही रखी थी। मुनियाँ ने कमरे में झाँक कर देखा। झींगुरिया उसी प्रकार उकड़ू बैठा था। हाँ, अब कुछ कौने से एक ओर हट गया था। कमरे में और कोई नजर न आया। थाली में आधा खाना छोड़ दिया गया था। वह थाली उठा कर चुपचाप बाहर चली आई। रह-रह कर उसकी आँखों के सामने वही एक ओर को झुकी गरदन, पथराई आँखें, स्याह चहरा नजर आता।

६

रात को झींगुरिया को एक बोरी में बन्द कर दिया गया और बड़ी हवेली के पीछे के रास्ते से उसे निकाल कर जीप में डाल दिया गया। रात के दो बजे सहसा बड़ी हवेली में एक जोरों का शोर सुनाई दिया—"पकड़ो-पकड़ो, भाग गया, भाग गया।" ठाकुर साहब, सुपरिन्टेन्डेण्ट साहब, छोटे-बड़े दरोगाजी सिपाही, चौकीदार, हवेली के सब नौकर इधर-उधर भागने लगे—"कैदी भाग गया" झींगुरिया भाग गया का शोर चारों ओर फैल गया।

हवेली के बाहर पेड़ के नीचे फटा कम्बल ओढ़े अपनी छाती से तीनों बच्चों को चिपटाये पड़ी मुनियाँ ने भी सुना—"कैदी भाग गया" "झींगुरिया भाग गया।" उसकी आँखों के सामने फिर वही चित्र खिच गया, एक ओर को झुकी गरदन, पथराई आँखें, स्याह चहरा।

दरोगाजी ने सुबह रिपोर्ट लिखदी—"कैदी भाग गया।"

जहाँ लक्ष्मी कैद है

राजेन्द्र यादव

राजेन्द्र यादव

जन्म—२८ अगस्त १६२६, आगरा।

सन् ४२–४३ में एक 'करण' की अकिंचनता लेकर साहित्य में प्रवेश किया, शायद हिमालय की उच्चता ग्रहण करने के लिए। हिमालय न सही, लेकिन सन् ५७ तक कथा-साहित्य के एक सशक्त स्तम्भ की दृढ़ता को तो प्राप्त कर ही लिया है।

राजेन्द्र यादव की कहानियों तथा उपन्यासों में सामाजिक विषमताओं और कटुताओं से ग्रस्त जीवन और यौवन की गहरी पैठ और मार्मिक अभिव्यक्ति का दर्शन होता है।

फिलहाल कलकत्ते में रहकर स्वतन्त्र-लेखन और स्वाध्याय में संलग्न हैं। "लेकिन अब तीन साल हुगली के किनारे झख मारने के बाद पुनः अपने वतन की ओर प्रस्थान के पुण्य इरादे में हैं।" खुद 'उखड़े हुए लोग' हैं, इसलिए कहीं ज्यादा जमते नहीं।

रचनाएँ—१–रेखाएँ, लहरें और परछाइयाँ, २–देवताओं की मूर्तियाँ, ३–खेल-खिलौने (कहानी-संग्रह); ४–प्रेत बोलते हैं, ५–उखड़े हुए लोग (उपन्यास), ६–एन्टन चेखव : एक इण्टरव्यू, छप चुकी हैं, तथा ७–आवाज तेरी है (कविता-संग्रह), ८–नया उपन्यास (आलोचना), ९–जहाँ लक्ष्मी कैद है (कहानी-संग्रह), प्रेस में हैं।

जहाँ लक्ष्मी कैद है

[श्री राजेन्द्र यादव]

जरा ठहरिये, यह कहानी विष्णु की पत्नी लक्ष्मी के बारे में नहीं, लक्ष्मी नाम की एक ऐसी लड़की के बारे में है जो कैद से छूटना चाहती है। इन दो नामों में ऐसा भ्रम होना स्वाभाविक है जैसा कि कुछ क्षण के लिये गोविन्द को हो गया था।

एक दम घबराकर जब गोविन्द की आँखें खुलीं तो वह पसीने से तर था और उसका दिल इतने जोर से धड़क रहा था कि उसे लगा कि कहीं अचानक उसका धड़कना बन्द न हो जाय। अँधेरे में उसने पाँच-छ: बार पलकें झपकीं। पहली बार तो एकदम उसकी समझ में ही न आया कि वह कहाँ है, कैसा है—एकदम दिशा और स्थान का ज्ञान उसे भूल गया। जब पास के हॉल की घड़ी ने एक का घंटा बजाया तो उसकी समझ में ही न आया कि वह घड़ी कहाँ है, वह स्वयं कहाँ है और घंटा कहाँ बज रहा है? फिर धीरे-धीरे उसे ध्यान आया, उसने जोर से अपने गले का पसीना पोंछा और उसे लगा, उसके दिमाग में फिर वही खटखट गूँज उठी है, जो अभी गूँज रही थी......।

पता नहीं, सपने में या सचमुच ही; अचानक गोविन्द को ऐसा लगा था जैसे किसी ने किवाड़ पर तीन-चार बार खट्खट् की हो, और बड़े गिड़गिड़ा कर कहा हो—"मुझे निकालो, मुझे निकालो।" और यह आवाज कुछ ऐसे रहस्यमय ढङ्ग से आकर उसकी चेतना को कोंचने लगी कि वह बौखला कर जाग उठा—सचमुच ही यह किसी की आवाज थी या महज उसका भ्रम?

फिर उसे धीरे-धीरे याद आया कि यह भ्रम ही था और वह लक्ष्मी के बारे में सोचता हुआ ऐसा अभिभूत सोया था कि वह स्वप्न में भी छायी रही। लेकिन, वास्तव में यह आवाज कैसी विचित्र थी, कैसी साफ थी?—उसने कई बार सुना था कि अमुक स्त्री या पुरुष से स्वप्न में आकर कोई कहता था कि "मुझे निकालो, मुझे निकालो!" फिर वह धीरे-धीरे स्थान की बात भी बताने लगता था, और वहाँ खुदवाने पर कड़ाहे या हाँडी में भरे सोने-चाँदी के सिक्के या माया उसे मिली और वह देखते-देखते मालामाल हो गया। कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि किसी अनधिकारी आदमी ने उस द्रव्य को निकलवाना चाहा तो

उसमें कौड़ियाँ ग्रौर कोयले निकले या फिर उसके कोढ़ फूट ग्राया या घर में कोई मृत्यु हो गयी। कहीं इसी तरह, धरती के नीचे से उसे कोई लक्ष्मी तो नहीं पुकार रही है ? ग्रोर वह बड़ी देर तक सोचता रहा, उसके दिमाग में फिर लक्ष्मी का किस्सा साकार होने लगा। वह मोहाछन्न सा पड़ा रहा……।

दूर कहीं दूसरे घड़ियाल ने फिर वही एक घण्टा बजाया।

गोविन्द से ग्रब नहीं रहा गया। रजाई को चारों तरफ से बन्द रखे हुए ही बड़े सम्हाल कर उसने कुहनी तक हाथ निकाला, लेटे ही लेटे ग्रलमारी के खाने से किताब-कापियों की बगल से उसने ग्रधजली मोमबत्ती निकाली, वहीं कहीं से खोजकर दियासलाई निकाली ग्रौर ग्राधा उठाकर, ताकि जाड़े में दूसरा हाथ पूरा न निकालना पड़े उसने दो-तीन बार घिसकर दियासलाई जलायी, मोमबत्ती रोशन की ग्रौर पिघले मोम की बूँद टपकाकर उसे दवात के ढक्कन के ऊपर जमा दिया। धीरे-धीरे हिलती रोशनी में उसने देख लिया कि पूरे किवाड़ बन्द हैं, ग्रौर दरवाजे के सामनेवाली दीवार में बने, जाली लगे रोशन-दान के ऊपर, दूसरी मंजिल से हल्की-हल्की जो रोशनी ग्राती है वह भी बुझ चुकी है। सब कुछ कितना शान्त हो चुका है। बिजली का स्विच यद्यपि उसके तख्त के ऊपर ही लगा था, लेकिन एक तो जाड़े में रजाई समेत या रजाई छोड़कर खड़े होने का ग्रालस्य, दूसरे लाला रूपाराम का डर, सुबह ही कहेगा—"गोबिन्द बाबू, बड़ी देर तक पढ़ाई हो रही है ग्राजकल !" जिसका सीधा ग्रर्थ होता कि बड़ी बिजली खर्च करते हो !

फिर उसने चुपके से, जैसे कोई उसे देख रहा हो, तकिये के नीचे से रजाई के भीतर ही भीतर हाथ बढ़ाकर वह पत्रिका निकाल ली ग्रौर गर्दन के पास से हाथ निकालकर उसके सैंतालीसवें पन्ने को बीसवीं बार खोलकर बड़ी देर घूरता रहा। एक बजे की पठानकोठ ऐक्सप्रेस जब दहाड़ती हुई गुजर गयी तो सहसा उसे होश ग्राया। ४७ ग्रौर ४८—जो पन्ने उसके सामने खुले थे, उसमें जगह-जगह नीली स्याही से कुछ पंक्तियों के नीचे लाइनें खींची गयी थीं—यही नहीं, उस पन्ने का कोना मोड़कर उन्हीं लाइनों की तरफ विशेष रूप से ध्यान खींचा गया था। ग्रब तक गोविन्द उन या उनके ग्रासपास की लाइनों को बीस बार से ग्रधिक घूर चुका था, उसने शंकित निगाहों से इधर-उधर देखा ग्रौर फिर एक बार उन पंक्तियों को पढ़ा।

जितनी बार वह उन्हें पढ़ता, उसका दिल एक ग्रनजान ग्रानन्द के बोझ से धड़क कर डूबने लगता ग्रौर दिमाग उसी तरह भन्ना उठता, जैसा उस समय भन्नाया था जब यह पत्रिका उसे मिली थी। यद्यपि इस बीच उसकी मानसिक

दशा कई विकट स्थितियों से गुजर चुकी थी, फिर भी वह बड़ी देर तक काली स्याही से छपे कहानी के अक्षरों को स्थिर निगाहों से घूरता रहा—धीरे-धीरे उसे ऐसा लगा, यह अक्षरों की पक्तियां एक ऐसी खिड़की की जाली है, जिसके पीछे बिखरे बालों वाली एक निरीह लड़की का चेहरा झाँक रहा है। और फिर उसके दिमाग में बचपन में सुनी कहानी साकार होने लगी—शिकार खेलने में साथियों का साथ छूट जाने पर भटकता हुआ एक राजकुमार अपने थके माँदे घोड़े पर बिलकुल बीराने में समुद्र के किनारे बने एक विशाल सुनसान किले के नीचे जा पहुँचा। वहाँ ऊपर खिड़की में उसे एक अत्यन्त सुन्दर राजकुमारी बैठी दिखायी दी, जिसे एक राक्षस ने लाकर वहाँ कैद कर दिया था···छोटे से छोटे विवरण के साथ खिड़की में बैठी राजकुमारी की तस्वीर गोविन्द की आँखों के सामने स्पष्ट और मूर्त होती गई। और उसे लगा, जैसे वही राजकुमारी उन रेखांकित, छपी लाइनों के पीछे से झाँक रही है—उसके गालों पर आँसुओं की लकीरें सूख गयी हैं, उसके ओंठ पपड़ा गये हैं······चेहरा मुर्झा गया है और रेशमी बाल मकड़ी के जाले जैसे लगते हैं। —जैसे उसके पूरे शरीर से एक आवाज निकलती हो—"मुझे छुड़ाओ-मुझे छुड़ाओ।"

गोविन्द के मन में उस अनजान राजकुमारी को छुड़ाने के लिए जैसे रह-रह कर कोई कुरेदने लगा। एक आध बार तो उसकी बड़ी प्रबल इच्छा हुई कि अपने भीतर रह-रह कर कुछ करने की उत्तेजना को वह अपने तख्त और कोठरी की दीवार के बीच में बची दो फुट चौड़ी गली में घूम-घूम कर दूर करा दे।

तो क्या सचमुच, लक्ष्मी ने यह सब उसी के लिए लिखा है ? लेकिन उसने तो लक्ष्मी को देखा तक नहीं। अगर अपनी कल्पना में किसी जवान लड़की का चेहरा लाये भी तो वह आखिर कैसी हो ?······कुछ और भी बातें थीं कि वह लक्ष्मी के रूप में एक सुन्दर लड़की के चेहरे की कल्पना करते डरता था—उसकी ठीक शक्ल-सूरत और उम्र भी तो नहीं मालूम उसे······

गोविन्द यह अच्छी तरह जानता था कि यह सब उसी के लिए लिखा गया है। ये लाइनें खींच कर उसी का ध्यान आकृष्ट किया गया है, लेकिन तब भी वह इस अप्रत्याशित बात पर विश्वास नहीं कर पाता था। वह अपने को इस लायक भी नहीं समझता था कि कोई लड़की इस तरह उसे संकेत करेगी। यों शहरों के बारे में उसने बहुत काफी सुन रक्खा था, लेकिन यह सोचा भी नहीं था कि गाँव से इण्टर पास कर के शहर आने के एक हफ्ते में ही उसके

सामने एक ऐसी ही सौभाग्यपूर्ण बात आ जायेगी······

वह जब-जब इन पंक्तियों को पढ़ता तब-तब उसका सिर इस तरह चकराने लगता जैसे किसी दस मंजिले मकान से नीचे झाँक रहा हो। जब उसने पहले पहल यह पंक्तियाँ देखी थीं तो इस तरह उछल पड़ा था जैसे हाथ में अङ्गारा आ गया हो।

बात यह हुई कि वह चक्की वाले हॉल में ईंटों के तख्त जैसे बने चबूतरे पर बड़ी पुरानी काठ की सन्दूकची के ऊपर लम्बा-पतला रजिस्टर खोले दिन-भर का हिसाब मिला रहा था, तभी लाला रूपाराम का सब से छोटा—नौ-दस साल का लड़का रामस्वरूप उसके पास आ खड़ा हुआ। यह लड़का एक फटे-पुराने से चैस्टर—जो साफ ही किसी बड़े भाई के चेस्टर को कटवा कर बनवाया गया होगा—की जेबों में दोनों हाथों को ठूँसे पास खड़ा होकर उसे देखने लगा।

गोविन्द जब पहले ही दिन आया था और हिसाब कर रहा था, तभी यह लड़का भी आ खड़ा हुआ था। उस दिन लाला रूपाराम भी थे, इसलिए सिर्फ यह दिखाने को कि वह उनके सुपुत्र में भी काफी रुचि रखता है, उसने उससे नियमानुसार नाम, उम्र और स्कूल-क्लास इत्यादि पूछे थे। नाम राम-स्वरूप, उम्र नौ साल, चुङ्गी प्राइमरी स्कूल में चौथे क्लास में पढ़ता था। फिर तो सुबह शाम गोविन्द उसे चैस्टर की छाया से ही जानने लगा। शक्ल देखने की जरूरत ही नहीं होती थी। चैस्टर के नीचे नेकर पहने होने के कारण उसकी पतली टाँगें खुली रहतीं और वह पाँवों में बड़े पुराने किरमिच के जूते पहने रहता, जिनकी फटी निकली जीभों को देख कर उसे हमेशा दुम कटे कुत्ते की पूँछ का ध्यान हो आता था।

थोड़ी देर उसका लिखना ताकते रह कर लड़के ने चैस्टर के बटनों के कसाव और छाती के बीच में रखी पत्रिका निकाल कर उसके सामने रख दी और बोला—"मुन्शीजी, लक्ष्मीं जीजी ने कहा है, हमें कुछ और पढ़ने को दीजिए।" "अच्छा कल देंगे······" मन-ही-मन भन्ना कर उसने कहा।

यहाँ आकर उसे जो 'मुंशीजी' का नया खिताब मिला है, उसे सुनकर उसकी आत्मा खाक हो जाती है। मुंशी नाम के साथ जो एक कान पर कलम लगाये, गोल मैली टोपी, पुराना कोट पहने—मुड़-तुड़े आदमी की तस्वीर सामने आती है—उसे बीस-बाईस साल का युवक गोविन्द सम्हाल नहीं पाता।

लाला रूपाराम उसी के गाँव के पास के हैं—शायद उसके पिता के साथ दो-तीन जमात पढ़े भी थे। शहर आते ही आत्म-निर्भर होकर पढ़ाई चला सकने के लिये किसी ट्यूशन इत्यादि या छोटे-मोटे पार्ट टायम काम के लिये

लाला रूपाराम से भी वह मिला तो उन्होंने अत्यन्त उत्साह से उसके मृत बाप को याद करके कहा—'भैया, तुम तो अपने ही बच्चे हो, जरा हमारी चक्की का हिसाब-किताब घन्टे-आध-घन्टे देख दिया करो और मजे में चक्की के पास जो कोठरी है उसमें पड़े रहो, अपने पढ़ो। आटे की तो कमी है ही नहीं।' और अत्यन्त कृतज्ञता से गदगद जब वह उनकी कोठरी में आ गया तो पहली रात हिसाब लिखने का ढङ्ग समझाते हुए लाला रूपाराम मोतियाविन्द वाले चश्मे के मोटे-मोटे काँचों के पीछे से मोरपंखी के चँदोवे-सी दीखती आँखों और मोटे ओठों से मुस्कुराते, उसका सम्मान बढ़ाने को 'मुंशीजी, कह बैठे तो वह चौंक गया। लेकिन उसने निश्चिय कर लिया कि यहाँ जम जाने के बाद विनम्रता से इस शब्द का विरोध करेगा। रामस्वरूप से मुंशीजी नाम सुनकर उसकी भौंहें तन गयीं इसीलिए उसने उपेक्षा से वह उत्तर दिया था।

"कल जरूर दीजियेगा।" रामस्वरूप ने फिर अनुरोध किया।

"हाँ, भाई जरूर देंगे।" उसने दाँत पीसकर कहा, लेकिन चुप ही रहा।

वह अक्सर लक्ष्मी का नाम सुनता था। हालांकि उसकी कोठरी बिल॰कुल सड़क की तरफ अलग ही पड़ती थी, लेकिन उसमें पीछे की तरफ जो एक जालीदार छोटा-सा रोशनदान था, वह घर के भीतर नीचे की मञ्जिल के चौक में खुलता था। लाला रूपाराम का परिवार ऊपर की मञ्जिल पर रहता था और नीचे सामने की तरफ पनचक्की थी, पीछे कई तरह की चीज़ों का स्टोर रूम था। इस लक्ष्मी नाम के प्रति उसे उत्सुकता और रुचि इसलिये बहुत थी कि चाहे कोठरी में हो या बाहर, पनचक्की के हॉल में हर पांचवे मिनट पर उसका नाम विभिन्न रूपों में सुनायी देता था—लक्ष्मी बीबी ने यह कहा है, रुपये लक्ष्मी बीबी के पास हैं, चाबी लक्ष्मी बीबी को दे देना। और उसके जवाब में जो एक पतली तीखी-सी अधिकारपूर्ण आवाज सुनायी देती थी, उसे गोविन्द पहचानने लगा था। अनुमान से उसने समझ लिया कि यही लक्ष्मी की आवाज़ है। लेकिन स्वयं वह कैसी है, उसकी एक झलक भर देख पाने को उसका दिल कभी-कभी बुरी तरह तड़प-सा उठता। लेकिन पहले कुछ दिनों उसे अपना प्रभाव जमाना था, इसलिए वह आँख उठाकर भी भीतर देखने की कोशिश न करता। मन-ही-मन उसने समझ लिया कि यह लक्ष्मी है, काफी महत्वपूर्ण भी···दिक्कत यह थी कि भीतर कुछ दिखायी भी तो नहीं देता था। सड़क के किनारे तीन-चार दरवाजे वाले इस चक्की के हॉल के बाद एक आठ-दस फुट लम्बी गली थी, तब फिर भीतर चौक था। पहली मञ्जिल काफी ऊँची और मजबूत थी, और चौक के ऊपर लोहे का जाल पड़ा था, उस पर

से ऊपर वाले लोग जब गुजरते थे तो लोहे की झनझनाहट से पहले तो उसका ध्यान हर बार उधर चला जाता था। कभी-कभी बच्चे तो और भी उछल-उछल कर उस पर कूदने लगते थे। यहाँ से तो जब तक किसी बहाने पूरी गली न पार की जाय, कुछ भी दीखना असम्भव था। चूँकि गुसलखाना और नल इत्यादि उसी चौक में थे, जिनकी वजह से नीचे प्रायः सीलन और गीलापन रहता था, इसलिये सुबह चौक में जाते हुए अत्यन्त सीधे लड़के की तरह निगाहें नीची किये हुए भी वह ऊपर की स्थिति को भाँपने का प्रयत्न करता था। ऊपर सिर उठाकर आँख भर देख पाने की उसमें हिम्मत नहीं थी। अपनी कोठरी का एकमात्र दरवाजा बन्द करके, तख्त पर चढ़कर मकड़ी के जाले और धूल से भरे जालीदार रोशनदान से झाँक कर उसने वहाँ की स्थिति को भी जानने की कोशिश की थी, लेकिन वह कम्बख्त जाली कुछ इस ढङ्ग से बनी थी कि उसके 'फ़ोकस' में पूरा सामने वाला छज्जा और एकाध फुट लोहे का जाल भर आता था। वहाँ कई बार उसे लगा जैसे दो छोटे-छोटे तलुये गुजरे···बहुत कोशिश करने पर टखने दीखे—हाँ हैं तो किसी लड़की के ही पैर, क्योंकि साथ में धोती का किनारा भी झलका था···उसने एक गहरी साँस ली और तख्त से उतरते हुए बड़े ऐक्टराना अन्दाज में छाती पर हाथ मारा और बुदबुदाया—"अरे लक्ष्मी·············"

'मुंशीजी, तुम तो देख रहे हो, लिखते क्यों नहीं ?" रामस्वरूप ने जब देखा कि गोविन्द धीरे-धीरे होल्डर का पिछला हिस्सा दाँतों में ठोंकता हुआ हिसाब की कापी में अपलक कुछ घूर रहा है तो पता नहीं कैसे यह बात उसकी समझ में आगयी कि वह कुछ सोच रहा है, उसका सम्बन्ध सामने रखे हिसाब से नहीं है···

उसने चौंककर लड़के की तरफ देखा···और चोरी पकड़ी जाने पर झेंपकर मुस्कराया; तभी अचानक एक बात उसके दिमाग में कौंधी—यह लक्ष्मी रामस्वरूप की बहन ही तो है। जरूर उसका चेहरा इससे काफी मिलता-जुलता होगा। इस बार उसने ध्यान से रामस्वरूप का चेहरा देखा कि वह सुन्दर है या नहीं। फिर अपनी बेवकूफी पर मुस्कराकर एक अँगड़ाई ली और चारों तरफ ढीले हुए कम्बल को फिर से चारों ओर कस लिया और अप्रत्याशित प्यार से बोला—"अच्छा मुन्ना, कल सुबह दे देंगे"···उसकी इच्छा हुई कि वह उससे लक्ष्मी के बारे में कुछ बात करे, लेकिन सामने ही चौकीदार और मिस्त्री सलीम काम कर रहे थे······

असल में आज वह थक भी गया था, इसलिये अचानक व्यस्त होकर

बोला था और जल्दी-जल्दी हिसाब करने लगा। दुनिया भर की सिफारिशों के बाद उसका नाम कालेज के नोटिस बोर्ड पर आ गया था कि वह ले लिये गये लड़कों में से है। आते समय कुछ किताबें और कापियाँ भी खरीद लाया था, सो आज वह चाहता था कि जल्दी से जल्दी अपनी कोठरी में लेटे और कुछ आगे-पीछे की बातें…दुनियाभर की बातें सोचता हुआ सो जाय…सोचे लक्ष्मी कौन है…कैसी है…वह उसके बारे में किससे पूछे ?…कोई उसका हम उम्र और विश्वास का आदमी भी तो नहीं है। किसी से पूछे और रूपाराम को पता चल जाय तो ! लेकिन अभी तीसरा ही तो दिन है…मन-ही-मन अपने पास रखी पत्रिकाओं और कहानी की पुस्तकों की गिनती करते हुए वह सोचने लगा कि इस बार उसे कौन-सी देनी है……आगे जाकर जब काफी दिन हो जायेंगे तो वह चुपचाप उसमें एक ऐसा छोटा-सा पत्र रख देगा जो किसी दोस्त के नाम लिखा गया होगा या उसकी भाषा ऐसी होगी कि पकड़ में न आ सके… भूल से चला गया, पकड़े जाने पर वह आसानी से कह सकेगा उसे तो ध्यान भी नहीं था कि पर्चा इसमें रखा है। बीस जवाब हैं। अपनी चालाक बेवकूफी की कल्पना पर वह मुस्कराने लगा।

जिसके विषय में वह इतना सब सोचता रहता है; यह उसी लक्ष्मी के पास से आयी हुई पत्रिका है—उसने इसे अपने कोमल हाथों से छुआ होगा, तकिये के नीचे, सिरहाने भी यही रही होगी—लेट कर पढ़ते हुये हो सकता है सोचते-सोचते छाती पर भी रख कर सो गयी हो—और उसका तन-मन गुद-गुदा उठा। क्या लक्ष्मी उसके विषय में बिल्कुल ही न सोचती होगी ? हिसाब लिखने की व्यस्तता में भी उसने गर्दन मोड़कर एक हाथ से पत्रिका के पन्ने पलटने शुरू कर दिये और एक कोने मुड़े पन्ने पर अचानक उसका हाथ ठिठक गया—यह किसने मोड़ा है ? एक मिनट में हजारों बातें उसके दिमाग में चक्कर लगा गयीं। उसने पत्रिका उठाकर हिसाब की कापी पर रख ली। मुड़ा पन्ना पूरा खुला था। छपे पन्ने पर जगह-जगह नीली स्याही से निशान देख कर वह चौंक पड़ा। यह किसने लगाये हैं ? उसे खूब अच्छी तरह ध्यान है यह पहले नहीं थे…………

"मैं तुम्हें प्राणों से अधिक प्यार करती हूँ" उसने एक नीली लाइन के ऊपर पढ़ा…………

"अयँ ऽऽ ! यह क्या चक्कर है ?" वह एक दम जैसे बौखला उठा। उसने फौरन ही सामने बैठे मिस्त्री सलीम और दिलावरसिंह को देखा, वे अपने में ही व्यस्त थे। उसकी निगाह अपने आप दूसरी लाइन पर फिसल गयी।

"मुझे यहाँ से भगा ले चलो............"

"अरे ?"

तीसरी लाइन—"मैं फाँसी लगा कर मर जाऊँगी।"

और गोविन्द इतना घबरा गया कि उसने झट से पत्रिका बन्द कर दी। शङ्का से इधर उधर देखा, किसी ने ताड़ तो नहीं लिया ? उसके माथे पर पसीना उभर आया और दिल चक्की के मोटर की तरह चलने लगा। पत्रिका के उन पन्नों के बीच में ही उँगली रखे हुये उसने उसे घुटने के नीचे छिपा लिया। कहीं दूर से ही रङ्ग-बिरङ्गी कवर की तस्वीर को देख कर यह कम्बख्त चौकीदार ही न माँग बैठे। उन पंक्तियों को एक बार फिर देखने की दुर्निवार इच्छा उसके मन में हो रही थी, लेकिन जैसे हिम्मत न पड़ती थी। क्या सचमुच यह निशान लक्ष्मी ने ही लगाये हैं ? कहीं किसी ने मजाक तो नहीं किया ? लेकिन मजाक उससे कौन करेगा ? ऐसा उसका कोई परिचित भी तो नहीं है यहाँ कि तीन दिन में ही ऐसी हिम्मत कर डाले।

उसने फिर पत्रिका निकाल कर पूरी उलट-पलट डाली। नहीं, निशान वहीं हैं, बस। वह इन तीनों लाइनों को फिर एक साथ पढ़ गया और उसे ऐसा लगा जैसे उसके दिमाग में हवाई जहाज भन्ना उठा हो! गोविन्द का दिमाग चकरा रहा था—दिल धड़क रहा था और जो हिसाब वह लिख रहा था, वह तो जैसे एक दम भूल गया। उसने कलम के पिछले हिस्से से कान के ऊपर खुजलाया, खूब आँखें गड़ा कर जमा और खर्च के खानों को देखने की कोशिश की, लेकिन बस नस-नस में सन्-सन् करती कोई चीज दौड़े जा रही थी। उसे लगा उसका दिल फट जायगा और आतशबाज़ी के अनार की तरह दिमाग फूट पड़ेगा—अब वह किससे पूछे—यह सब निशान किसने लगाये हैं ? क्या सचमुच लक्ष्मी ने ?

इस मधुर सत्य पर विश्वास नहीं होता। मैं चाहे उसे न देख पाया होऊँ, उसने तो जरूर ही मुझे देख लिया होगा। अरे ये लड़कियाँ बड़ी तेज होती हैं। गोविन्द की इच्छा हुई, अगर उसे इसी क्षण शीशा मिल जाय तो वह लक्ष्मी की आँखों से अपने को एक बार देखे, कैसा लगता है—

लेकिन यह लक्ष्मी कौन है ? विधवा, कुमारी, विवाहिता, परित्यक्ता, क्या ? कितनी बड़ी है ? कैसी है ? उसकी नस-नस में एक ऐसी डबल मरोड़-सी उठने लगी कि वह अभी उठे और दौड़ कर भीतर के आँगन की सीढ़ियों से धड़ाधड़ चढ़ता हुआ ऊपर जा पहुँचे—लक्ष्मी जहाँ भी, जिस कमरे में बैठी हो, उसके दोनों कन्धे झकझोर कर पूछे—"लक्ष्मी, लक्ष्मी, यह सब तुमने लिखा

है ? तुम नहीं जानतीं लक्ष्मी, मैं कितना अभागा हूँ। मैं कतई इस सौभाग्य के लायक नहीं हूँ।" और सचमुच इस अप्रत्याशित सौभाग्य से गोविन्द का हृदय इस तरह पसीज उठा कि उसकी आँखों में आँसू आ गये। डोरी से लटकते हुये बल्ब को अपलक देखता हुआ वह अपने अतीत और भविष्य की गहराइयों में उतरता चला गया, फिर उसने धीरे से अपनी कोरों में भर आये आँसुओं को उँगली पर लेकर इस तरह झटक दिया जैसे देवता पर चन्दन चढ़ा रहा हो। उसका ढीला पड़ा हाथ अब भी पत्रिका के पन्ने को पकड़े था।

एक बार उसने फिर उन पंक्तियों को देखा—मान लो लक्ष्मी उसके साथ भाग जाय ! कहाँ जायँगे वे लोग ? कैसे रहेंगे ? उसकी पढ़ाई का क्या होगा ? बाद में पकड़ लिए गये तो ?

लेकिन आखिर यह लक्ष्मी है कौन ?

लक्ष्मी के बारे में प्रश्नों का एक ऐसा झुण्ड उसके दिमाग पर टूट पड़ा जैसे शिकारी कुत्तों का बाड़ा खोल दिया गया हो या एक के बाद एक सिर पर कोई हथौड़े की चोटें कर रहा हो, बड़ी निर्ममता और क्रूरता से, जैसे छत पर से अचानक गिर पड़ने वाले आदमी के सामने सारी दुनिया एक झटके के साथ एक क्षण में चक्कर लगा जाती है, उसी तरह उसके सामने सैकड़ों-हजारों चीजें एक साथ चमक कर गायब हो गयीं।

ईंटों के ऊँचे चौकोर तख्तनुमा चबूतरे पर पुरानी छोटी-सी सन्दूकची के आगे बैठा गोविन्द हिसाब लिख रहा था और अभी हिसाब न मिलने के कारण कच्चे पुरजे इधर-उधर बिखरे थे। वे सब यों ही बिखरे रहे और उसने खुले लेजर—रजिस्टर पर दोनों कुहनियाँ टिकादीं और दोनों हथेलियों से आँखें बन्द करलीं······कनपटी के पास की नसें चटख रही थीं। ऐसा तो कभी देखा सुना नहीं—सिनेमा, उपन्यासों में भी नहीं देखा पढ़ा ! सचमुच इन निशानों का क्या मतलब है ? क्या लक्ष्मी ने ही यह लाइनें खींची हैं ? हो सकता है किसी बच्चे ने ही खींच दी हों······इस सम्भावना से थोड़ा चौंककर गोविन्द ने फिर पन्ना खोला—नहीं; बच्चा क्या सिर्फ उन्हीं छपी लाइनों के नीचे निशान लगाता ? और लकीरें इतनी सधी और सीधी हैं कि किसी बच्चे की हो ही नहीं सकतीं। किसी ने उसे व्यर्थ परेशान करने को तो निशान नहीं लगा दिये ? हो सकता है यह लक्ष्मी बहुत चुहलबाज हो और जरा छकाने को उसी ने सब किया हो······

यद्यपि गोविन्द इस तरह आँखें बन्द किये सोच तो रहा था, लेकिन उसे मन ही मन डर था कि मिस्री और दरवान देखकर कुछ समझ न जायँ !

सबसे बड़ा डर उसे लाला रूपाराम का था। अभी रुई भरी, सकलपारों वाली सिलाई की, मैली सी, पूरी बाँहों की मिरजई पहने और उस पर मैली—चीकट, युगों पुरानी अण्डी लपेटे, धीरे-धीरे हाँफते हुये, बेंत टेकते, बड़े कष्ट से सीढ़ियाँ उतर कर वे आयँगे……।

अचानक बेंत की खट्खट् से चौंककर उसने जो आँखों के आगे से हाथ हटाये तो देखा, सच ही लाला रूपाराम चले आ रहे हैं। अरे कम्बख़्त, याद करते ही आ पहुँचा—बैठे हुए देख तो नहीं लिया? उसने झट पत्रिका को घुटने के नीचे और भी सरका लिया और सामने फैले पुर्जों पर आँखें टिकाकर व्यस्त हो उठा। मिस्त्री और चौकीदार की खुसुर-पुसुर बन्द हो गयी। गली-सी पार करके लाला रूपाराम ने प्रवेश किया।

मोटे-मोटे शीशों के पीछे से उनकी आँखें बड़ी होकर भयङ्कर दीखती थीं। आँखों का रङ्ग और पलकों का रङ्ग मिलकर ऐसा दिखायी देता था जैसे पीछे मोरपंख के चँदोवे लगे हों। सिर पर रूई भरा ही कण्टोपा था, और उसके कानों को ढँकने वाले मोटर के 'मडगार्ड' जैसे कौने अब ऊपर मुड़े थे और पौराणिक राक्षसों के सींगों का दृश्य उपस्थित कर रहे थे। चेहरा उनका झुर्रियों से भरा था और चश्मे का फ्रेम नाक के ऊपर से टूट गया था, उसे उन्होंने डोरा लपेट कर मजबूत कर लिया था। दाँत उनके नकली थे और शायद ढीले भी थे क्योंकि उन्हें वे हमेशा इस तरह मुँह चला चला कर पीछे सरकाये रखते थे जैसे 'च्युइंगम' चबा रहे हों। गोविन्द को उनके इस मुँह चलाने और मुँह से निकलती तरह-तरह की आवाजों से बड़ी उबकाई-सी आती थी और जब वे उससे बात करते तो वह प्रयत्न करके अपना ध्यान उस ओर से हटाये रखता। लाला रूपाराम की गर्दन हमेशा इस तरह हिलती रहती जैसे खिलौने वाले बुड्ढे की गर्दन का स्प्रिंग ढीला हो गया हो। घुटनों तक की मैली-कुचैली धोती और मिलिटरी के कबाड़िया बाजार से ख़रीद कर लाये गये मोजों पर बाँधने की पट्टियाँ, जो शायद उन्हें गठिया के दर्द से भी बचाती थीं। बिना फीते के खीसे निपोरते फटे-पुराने बूट—उन्हें देखकर हमेशा गोविन्द को लगता कि इस आदमी का अन्त समय निकट आ गया है……।

जब लाला रूपाराम पास आ गये तो उसने उनके सम्मान में चेहरे पर चिकनाई वाली मुस्कान लाकर उनकी ओर देखते हुए स्वागत किया। ईंटों के चबूतरे पर लगभग दोसौ स्याही के दाग और छेद वाली दरी पर, रामस्वरूप के उससे सटकर खड़े होने से, एक मोटी सी सिकुड़न पड़ गयी थी, उसे हाथ से ठीक कर के उसने कहा, 'लालाजी यहाँ बैठिये…… ।"

लालाजी ने हाँफते हुए विना बोले ही इशारा कर दिया कि नहीं वे ठीक हैं, और वे टीन की कुर्सी पर ही उसकी ओर मुँह करके बैठ गये और हाँफते रहे। असल में उन्हें साँस की बीमारी थी और वे हमेशा प्यासे कुत्ते की तरह हाँफते रहते थे।

उनके वहाँ आ बैठने से एक बार तो गोविन्द काँप उठा, कहीं कम्बख्त को पता तो नहीं चल गया, कुछ पूछने-ताछने न आया हो! हालाँकि लाला रूपाराम इस समय खा-पीकर एक बार चक्कर जरूर लगाते थे, लेकिन उसे विश्वास हो गया कि हो न हो बुड्ढा ताड़ गया है। उसका दिल धसक चला! रूपाराम अभी हाँफ रहा था। गोविन्द सिर झुकाये ही हिसाब किताब जोड़ता रहा। आखिर स्थिति सम्हालने की दृष्टि से उसने कहा—"लालाजी, आज मेरा नाम आ गया कालेज में।"

"अच्छा।" लालाजी ने खाँसी के बीच में ही कहा, वह एक हाथ से डण्डे को धरती पर टेके था, दूसरे हाथ में कलाई तक गोमुखी बँधी थी, जिसके भीतर अंगुलियाँ चला-चला कर वह माला घुमा रहा था और उसका वह हाथ टोंटा-सा लग रहा था।

वातावरण का बोझा बढ़ता ही चला जा रहा था कि एक घटना हो गयी।

उन्होंने साँस इकट्ठी करके कुछ बोलने को मुँह खोला ही था कि भीतर आँगन का टट्टर (लोहे का जाल) भयंकर रूप से झनझना उठा, जैसे कोई बहुत ही भारी चीज़ ऊपर से फेंक दी गयी हो। और फिर जोर से बजती हुई, खनखनाती कलछी जैसी चीज नीचे आ गिरी। उसके पीछे चिमटा, सँड़ासी, और फिर तो उसे ऐसा लगा जैसे कोई बाल्टी, कढ़ाई, तवा इत्यादि निकाल-निकाल कर टट्टर पर फेंक रहा है, पानी और छोटी-मोटी चीजें नीचे गिर रही हैं। उसके साथ ही कुछ ऐसा कोलाहल और कुहराम भीतर सुनायी दिया जैसे आग लग गयी हो!

गोविन्द झटक कर सीधा हो गया—कहीं सचमुच आग-वाग तो नहीं लग गयी? उसने प्रश्न सूचक दृष्टि से चौंक कर लाला की तरफ देखा और वह आश्चर्य से अवाक् रह गया, लाला परेशान जरूर दिखाई देता था, लेकिन कोई भयङ्कर घटना हो गई है और उसे दौड़ कर जानना चाहिए—ऐसी कोई बात नहीं थी। मिस्त्री और चौकीदार दोनों बड़े दबे व्यंग्य से एक दूसरे की ओर देखते मुस्कराते, लाला की ओर निगाहें फेंक रहे थे। किसी को भी कोई खास चिन्ता नहीं थी। भीतर कोलाहल बढ़ रहा था, चीजें फिक रही थीं और टट्टर

की खड़खड़ाहट—धनधना हट गूंजती जा रही थी। आखिर यह क्या हो रहा है ? उत्तेजना से उसकी पसलियाँ तड़कने को हो आयीं। वह लाला से यह पूछने ही वाला था कि यह क्या है, तभी बड़े कष्ट से हाथ की लकड़ी पर सारा जोर दे कर वह उठ खड़ा हुआ......और घिसटता-सा जहाँ से आया था उसी गली में चला गया। जाते हुए उलट कर धीरे से उसने किवाड़ बन्द कर दिये। मिस्त्री और चौकीदार ने मुक्त होकर बदन ढीला किया, एक-दूसरे की ओर मुस्करा कर देखा, खँखारा और फिर एक बार खुल कर मुस्कराये। लाला का पीछा करती गोविन्द की निगाह अब उन लोगों की ओर मुड़ गयी। और जब उससे नहीं रहा गया तो वह खड़ा हो गया, मुर्गे के पङ्खों की तरह कम्बल को बाँहों पर फड़फड़ा कर उसने लपेटा और उस पत्रिका को देखता हुआ चबूतरे से नीचे उतर आया। थोड़ी देर यों ही असमञ्जस में खड़ा रहा, फिर उस गलियारे के दरवाजे तक गया कि कुछ दिखायी, सुनाई दे। कोलाहल में चार-पाँच आवाजें एक साथ किवाड़ की दरार से घुटी-घुटी सुनाई दीं और उसमें सबसे तेज आवाज वह थी जिसे उसने लक्ष्मी की आवाज समझ रखा था। हे भगवान, क्या हो गया ? कोई कहीं से गिर पड़ा, आग लग गयी, साँप बिच्छू ने काट लिया ? लेकिन जिस तरह यह लोग बैठे देख रहे थे, उससे तो ऐसा लगता था जैसे यह कोई खास बात नहीं है। यह कम्बख्त किवाड़ क्यों बन्द कर गया ? इस वक्त टट्टर धमाधम बज रहा था, जैसे उस पर कोई ताण्डव कर रहा हो। उस ऊँची—चीखती महीन आवाज में वह नारी कण्ठ, जिसे वह लक्ष्मी की आवाज समझता था, इतनी तेज और जोर से बोल रहा था, कि लाख कोशिश करने पर भी वह नहीं समझ सका।

"परेशान क्यों हो रहे हो बाबू ?" चौकीदार की आवाज सुन कर वह एकदम सीधा खड़ा हो गया। मुस्कुराता हुआ वह कह रहा था, "आज चण्डी चेत रही है।" उसकी इस बात पर मिस्त्री हँसा।

गोविन्द बुरी तरह झुँझला उठा। कोई इतनी बड़ी बात, घटना हो रही है और ये बदमाश इस तरह मजा लूट रहे हैं। फिर भी वह अत्यन्त चिन्तित और उत्सुक सा उधर मुड़ा।

इस बड़े कमरे या छोटे हाल में हर चीज पर आटे का महीन पाउडर छाया हुआ था। एक ओर आटे में नहायी चक्की, काले पत्थर के बने हाथी की तरह चुपचाप खड़ी थी और इसका पिसे आटे को सम्हालने वाला गिलाफ-सा सूँड की तरह लटका था। उसी की सीध में दूसरी दीवार के नीचे मोटर लगी थी, जहाँ से एक चौड़ा पट्टा चक्की को चलाता था। इतने हिस्से में सुरक्षा के

लिये एक रेलिङ्ग लगा दिया था, सामने ही दीवार में चिपके बड़े लम्बे-चौड़े लाल चौकोर तख्ते पर एक खोपड़ी और दो हड्डियों के क्रास के नीचे 'खतरा' और 'डेंजर' लिखे थे। उसके चबूतरे की बगल में ही छत से जाती जञ्जीर में एक बड़ी लोहे की तराजू, कथाकली की मुद्रा में एक बाँह ऊँची किये लटकी थी; क्योंकि दूसरे पलड़े में मन से लेकर छटाँक तक के बाँटों का ढेर लगा था। यद्यपि लाला रूपाराम अक्सर चौकीदार को डाटते थे कि रात में इसे उतार कर रख दिया कर, लेकिन किसी-किसी दिन आधी रात तक चक्की चलती और दुकान-दफ्तर वाले तो सुबह पाँच बजे से ही आने लगते हैं—उस समय बर्फ जैसी ठण्डी तराजू को छूना और टाँगना दिलावरसिंह को अधिक पसन्द नहीं है और वह उसे यह कह कर टालता है कि लड़ाई में सुबह ही सुबह काफी ठण्डी बन्दूकें लेकर मार्च और परेड कर लिया, अब क्या जिन्दगी भर ठण्डा लोहा ही छूना उसकी किस्मत में बदा है ? इसीलिये वह उसे टँगी ही रहने देता है, हालाँकि ठीक बीच में होने के कारण वह जब भी दरवाजा खोलने उठता है तो खुद ही उससे टकराते—उलझते और रात के एकान्त में फौजी गालियों का स्वगत भाषण करता है। पुराना कलैण्डर, एक ओर पिसाई के लिये भरे अन्न या पिसे आटे के बोरे, कनस्टर, पोटलियाँ और ऊपर चढ़कर अन्न डालने को मजबूत-सा स्टूल। इस समय दोनों टाँगें, जिनमें कीलदार फुल-बूट डटे हुए थे, धरती पर फैलाये वह मजे में खाट की पाटी पर झुका बैठा था और अपना पुराना—पहली लड़ाई के सिपाहीपने की याद—ग्रेटकोट चारों ओर लपेटे शान से बीड़ी धौंक रहा था और धीरे-धीरे सामने बैठे मिस्त्री सलीम से भी बातें करता जा रहा था।

उसके और मिस्त्री के बीच में एक बरोसी जल रही थी, जब कभी ध्यान आ जाता तो पास रखे कोयले—लकड़ी कुछ डाल देता और कभी-कभी अत्यन्त निस्पृहता से हाथ या पाँव उस दिशा में बढ़ाकर गर्मी सोखता। सलीम सिर झुकाये गर्म पानी की बाल्टी में ट्यूब डुबा-डुबा कर उनके पंक्चर देखने में व्यस्त था। उसके आस-पास दस-बारह काले-लाल ट्यूब, रबड़ की कतरनें कैंची, पेच, पलास, सोल्यूशन, चमड़े की पेटी और एक ओर टायर लटके दस-बारह साइकिल के पहियों का ढेर था। अपने इस सामान से उसने आधे से ज्यादा कमरा घेर लिया था।

जब गोविन्द उसके पास आया तो वह सिर झुकाये ही हँसता हुआ ट्यूब के पंक्चर को पकड़कर कान में लगी कापीइङ्ग पैन्सिल को थूक से गीला करते हुए, (हालाँकि ट्यूब पानी से भीगा था और सामने बाल्टी भरा पानी

भी रखा था) निशान लगाता हुआ जवाब दे रहा था, "यह कहा जमादार साहब ने ?" फिर एक भौंह को जरा तिरछी करके बोला, "लाला कुछ नामा ढीला करे तो……उसकी लड़की पर 'जिन' का साया है, उसका इलाज तो हम अपने मौलवी बदरुद्दीन साहब से मिनटों में करा दें।"

गोविन्द का माथा ठनका, लाला की किसी लड़की पर क्या कोई देवी आती है ? उसे अपने गाँव की एक ब्राह्मणी विधवा तारो का एकदम ध्यान हो आया। उसे भी जब आती थी तो घर के बर्तन उठा-उठा कर फेंकती थी, उसका सारा बदन ऐंठने लगता था, मुँह से झाग आने लगते थे, गर्दन मरोड़ खाने लगती थी, आँखें और जीभ बाहर निकलने लगती थीं। कौन लड़की है लाला की ? लक्ष्मी तो नहीं ? भगवान करे लक्ष्मी न हो, आशङ्का से डूबने सा लगा। उसने सुना, कोलाहल अब लगभग शान्त हो गया था और कहीं दूर से रह-रहकर एक हल्की रोने की आवाज़ भर सुनाई देती थी। शायद किसी को दौरा-वौरा ही आ गया है, तभी तो ये लोग निश्चिन्त हैं।

गोविन्द को सुनाकर चौकीदार बोला, "नामा ? तुम भी यार मिस्त्री किसी दिन बेचारे बुड्ढे का हाट फेल कराओगे। और बेट्टा, उस 'जिन' का इलाज तुम्हारे मौलवी के पास नहीं है, समझे। वह तो चीज ही दूसरी है ! आओ बाबूजी, बैठो।"

चौकीदार ने बैठे-ही-बैठे स्टूल की तरफ इशारा कर दिया। असल में वह गोविन्द को बाबूजी जरूर कहता था, लेकिन उसका विशेष आदर नहीं करता था। एक तो गोविन्द कस्बे से आया था, और उसे शहर में चौकीदारी करते हो चुके थे नकद बीस साल, दूसरे वह फौज में रहा था और कैरो तक घूम आया था—उम्र, अनुभव, तहजीब सभी में वह अपने को गोविन्द से ज्यादा ही समझता था। लेकिन गोविन्द को इस समय इस सबका ध्यान नहीं था। उसने स्टूल से टिककर जरा सहारा लेते हुए चिन्तित स्वर में पूछा, "क्यों भई, यह शोर-गुल क्या था, क्या हो रहा था ?"

मिस्त्री ने सिर उठाकर उसे देखा और चौकीदार की मुस्कराती नजरों से उसकी आँखें मिलीं। उसने अपनी खिचड़ी मूँछों पर हथेली फेरते हुए कहा, "कुछ नहीं बाबूजी, ऊपर कोई चीज़ बच्चे ने गिरा दी होगी…।"

मिस्त्री ने कहा, "जमादार साहब, झूठ क्यों बोलते हो ? साफ-साफ क्यों नहीं बता देते, अब इनसे क्या छिपा रहेगा ?"

"तू खुद क्यों नहीं बता देता", चौकीदार ने कहा और जेब से बीड़ी का बण्डल निकाल कर और कागज नोंचकर आटे की लोई बनाने की तरह

ढीला किया, फिर एक बीड़ी निकालकर मिस्त्री की ओर फेंकी और दूसरी को दोनों तरफ से फूंका और जलाने के लिये किसी दहकते कोयले की तलाश में बरोसी में निगाहें घुमाते हुए जरा व्यस्ता से बात जारी रखी—"तुझे क्या मालूम नहीं है ?"

इन दोनों की चुहल से गोविन्द की झुँझलाहट बढ़ रही थी, उसे लगा जरूर ही दाल में कुछ काला है, जिसे ये लोग टाल रहे हैं। मिस्त्री जीभ निकाले पंक्चर के स्थान को रेंगमाल से घिस रहा था। वह जब भी कोई काम एकाग्र चित्त से करता था तो अपनी जीभ को निकालकर ऊपर के ओंठ की तरफ मोड़ लेता था। उसकी चाँद के बीच में उभरते गंज को देखकर गोविन्द ने सोचा कि गंजापन तो रईसों की निशानी है, लेकिन यह कम्बख्त तो आधी रात में यहाँ पंक्चर जोड़ रहा है। उसने उसी तरह सिर झुकाये ही कहा, "अब मैं बाबूजी को किस्सा बताऊँ या इन ट्यूबों से सिर फोड़ूं ? साले सड़कर हलुआ तो हो गये हैं, पर बदलेगा नहीं। मन तो होता है; सब को उठाकर इस अँगीठी में रखदूँ, होगा सुबह सो देखा जायेगा........"

"ये इतने ट्यूब हैं काहे के ?" जरा आत्मीयता जताने को गोविन्द ने पूछा—"हालत तो सचमुच इनकी बड़ी खराब हो रही है।"

"आपको नहीं मालूम ?" इस बार काम छोड़कर मिस्त्री ने ग़ौर से गोविन्द को देखा—"यह आपके लाला के जो दर्जन-भर रिक्शा चलते हैं, उनका कूड़ा है। यह तो होता नहीं कि इतने रिक्शे हैं रोज टूट-फूट मरम्मत होती ही रहती है, हमेशा के लिये लगालें एक मिस्त्री, दिनभर की छुट्टी हुई। सो तो होयेगा नहीं, ट्यूब-टायर मेरे सिर हैं और बाकी टूट-फूट मिस्त्री अलीअहमद ठीक करते हैं।" फिर उसने यों ही पूछा, "आप बाबूजी, नये आये हैं ?"

"हाँ, दो-तीन दिन तो हुए ही हैं, मैं यहाँ पढ़ने आया हूँ।" गोविन्द ने कहा, उसके पेट में खलबलाहट मच रही थी, लेकिन नये सिरे से पूछने को सूत्र खोज रहा था।

"तभी तो !" मिस्त्री बोला, "तभी तो आप यह सब पूछ रहे हैं। रात को इसका हिसाब रखते हैं न हाँ ऽ ऽ ! थोड़े दिनों में अपने फरजन्द को भी आपसे पढ़वायेगा।" 'अपने फ़रजन्द' शब्द में जो व्यंग उसने दिया था उससे खुद ही प्रसन्न होकर मुस्कराते हुए उसने चौकीदार की दी हुई बीड़ी सुलगायी।

"अबे, उन्हें यह सब क्या बताता है, वे तो उसके गाँव से ही आये हैं। उन्हें सब मालूम है।" चौकीदार बोला।

"नहीं, सच मुझे कुछ नहीं मालूम।" गोविन्द ने जरा आश्वासन के स्वर में कहा, "इन लाला के तो पिता ही यहाँ चले आये थे न, सो हम लोगों को कुछ भी नहीं मालूम, बताइये न, क्या बात है?" गोविन्द ने आदरपूर्वक जरा खुशामद के लहजे में पूछा।

शायद उसकी जिज्ञासु व्याकुलता से प्रभावित होकर ही मिस्त्री बोला, अजी कुछ नहीं, लाला की बड़ी लड़की जो है न, उसे मिर्गी का दौरा आता है। कोई कहता है उसे हिस्टेरिया है, पर हमारा तो क़यास यह है कि बाबूजी, दौरा-बौरा कुछ नहीं, उस पर किसी आसेग का साया है......उस बेचारी को कुछ होश तो रहता ही नहीं......" "विधवा है?" जल्दी से बात काटकर गोविन्द धक्-धक् करते दिल से पूछ बैठा—हाय, लक्ष्मी ही न हो।

इस बार पुनः दोनों की निगाहों का आपस में टकराकर मुस्कराना उससे छिपा न रहा। बीड़ी के लम्बे कश के धुँए को लीलकर इस बार चौकीदार जबर्दस्ती गंभीर बनकर बोला—"अजी इसने उसकी शादी ही कहाँ की है।"

"नाम क्या है?" गोविन्द से नहीं रहा गया।

"लक्ष्मी!"

"लक्ष्मी....!" उसके मुँह से निकल गया, और जैसे एकदम उसकी सारी शक्ति किसी ने सोख ली हो, उसका जिज्ञासा और उत्तेजना से तना शरीर ढीला पड़ गया।

चौकीदार इस बार अत्यन्त ही रहस्यमय ढङ्ग से हँसा, जैसे कह रहा हो—अच्छा तुम भी जानते हो?

गोविन्द के मन में स्वाभाविक प्रश्न उठा—उसकी उम्र क्या है?

लेकिन चौकीदार ने पूछा, "तो सचमुच बाबूजी आप इनके घर के बारे में कुछ भी नहीं जानते?"

"नहीं तो भाई, मैंने बताया तो, मैं इनके बारे में कुछ भी, कतई नहीं जानता।" एक तरह आत्म समर्पण के भाव से गोविन्द बोला।

"लेकिन लक्ष्मी का किस्सा तो सारे शहर में मशहूर है", चौकीदार बोला, "आप शायद नये आये हैं, यही वजह है।" फिर मिस्त्री की ओर देखकर बोला, "क्यों मिस्त्री साहब, तो बाबूजी को किस्सा बता ही दूँ...।"

"अरे लो, यह भी कोई पूछने की बात है? इसमें छिपाना क्या? यहाँ रहेंगे तो कभी-न-कभी जान ही जायँगे।"

"अच्छा तो फिर सुन ही लो यार, तुम भी क्या कहोगे..." चौकीदार

ने आनन्द में आकर कहना शुरू कर किया—"आप शायद जानते हो, यह हमारा लाला शहर का मशहूर कंजूस और मशहूर रईस है······।"

"लामुहाला जो कंजूस होगा वो रईस तो होगा ही।" मिस्त्री बोला।

"नहीं मिस्त्री साहब, पूरा किस्सा सुनना हो तो बीच में मत टोको।" चौकीदार इस हस्तक्षेप पर नाराज हो गया।

"अच्छा-अच्छा सुनाओ।" मिस्त्री बुड्ढों की तरह मुस्कराया।

"इसकी यह चक्की है न, सहालगों में इस पर हजारों मन पिसता है, वैसे भी दो-ढाई सौ मन तो कम-से-कम पिसता ही है रोज। अफसरों और क्लर्कों को कुछ खिला-पिलाकर लड़ाई के जमाने में इसे मिलटरी के कुछ ठेके मिल ही जाते थे। आप जानो मिलटरी का ठेका तो जिसके पास आया सो बना। आप उन दिनों देखते 'लक्ष्मी फ्लोर मिल' के हल्ले ! बोरे यों चुने रखे रहते थे जैसे मोर्चे के लिए बालू भर-भर कर रख दिये हों। उसमें इसने खूब रुपया पीटा, मिलटरी के गेहूँ बेच दिये ओने-पोने भाव, और रद्दी सस्ते वाले खरीद कर कोटा पूरा कर दिया, उसमें खड़िया मिला दिया, पिसाई के उल्टे-सीधे पैसे तो इसने मारे ही, ब्लैक, चार-सौ-बीसी, चोरी···क्या-क्या इसने नहीं किया। इसके अलावा, एक बहुत बड़ी साबुन की फैक्ट्री और एक काफी बड़ा जूतों का कारखाना भी इसका है। उन्हें इसके बेटे सम्हालते हैं। पच्चीस-तीस रिक़्शे और पाँच मोटर ट्रक चलते हैं। दस-बारह से ज्यादा इसके मकान हैं, जिनका किराया आता है। रुपये सूद पर देता है। शायद गाँव में भी काफी जमीन इसने ले रखी है। एक काम है साले का ? इतना तो हमें पता है, बाकी इसकी असली आमदनी तो कोई भी नहीं जानता, कुछ-न-कुछ करता ही रहता है। भगवान जाने, रात-दिन किसी-न-किसी तिकड़म में लगा ही रहता है। करोड़ों का आसामी है। और सबसे ताज्जुब की बात यह है कि यह सब सिर्फ इसी पच्चीस-छब्बीस साल में जमा की हुई रक़म है।" चौकीदार दिलावरसिंह मिलटरी में रह आने के कारण खूब बातूनी था और मोर्चे के किस्सों को, अपनी बहादुरी के कारनामों को खूब नमक-मिर्च लगाकर इतनी बार सुना चुका था कि उसे कहानी सुनाने का मुहावरा हो गया था। हर बात के उतार-चढ़ाव के साथ उसकी आँखें और चेहरे की भंगिमायें बदलती रहती थीं।

उसकी बातें बड़े ग़ौर से सुनते हुए गोविन्द के मन में एक बात टकरायी, लक्ष्मी को दौरे आते है, कहीं ऐसा तो नहीं कि उसने जो यह निशान लगाकर भेजे हैं, यह भी दौरों की दशा में ही लगाये हों और उनका कोई विशेष गहरा अर्थ न हो। इस बात से सचमुच उसे बड़ी निराशा हुई, फिर भी

उसने ऊपर से आश्चर्य प्रगट करके पूछा—"सिर्फ पच्चीस-छब्बीस साल ?"

नयी बीड़ी जलाते हुए चौकीदार ने जरा जोर से सिर हिलाया। गोविन्द ने सोचा, "और लक्ष्मी की उम्र क्या होगी ?"

"और कंजूसी की तो हद आपने देख ही ली होगी, बुड्ढा हो गया है, साँस का रोग हो रहा है, सारा बदन काँपता है, लेकिन एक पैसे का भी फायदा देखेगा तो दस मील धूप में हाँफता हुआ पैदल जायगा, क्या मजाल जो सवारी करले। गर्मी आयी तो पूरा शरीर नंगा, कमर में धोती—आधी पहने, आधी बदन में लपेटे। और जाड़ा हुआ तो यही ड्रेस, बस इसी में पिछले दस साल से तो मैं देख रहा हूँ। कभी किसी मकान की मरम्मत न कराना, सफ़ेदी—सफाई न कराना और हमेशा यही ध्यान रखना कि कौन कितनी बिजली खर्च कर रहा, कहाँ बेकार नल या पंखा चल रहा है। लड़का है, सो उसे मुफ्त के चुङ्गी के स्कूल में डाल दिया है, लड़की घर पर बैठा रक्खी है। एक-एक पैसे के लिये घंटों रिक्शावालों—ट्रक वालों से लड़ना, बहसें करना और चक्की वालों की नाक में दम रखना, उन्हें दिन रात यह सिखाना कि किस चालाकी से आटा बचाया जा सकता है। बीसियों रुपये का आटा जो रोज होटल वालों को बिकता है सो अलग। जिस दिन से चक्की खुली है, घर के लिये तो आटा बाजार से आया ही नहीं। आप विश्वास मानिये, कम से कम बारह-पन्द्रह हजार की आमदनी होगी इसकी; लेकिन सूरत देखिये, मक्खियाँ भिनभिनाती रहती हैं। किसी आने-जाने वाले के लिये एक कुर्सी तक नहीं—पान सुपारी की तो बात ही दूर है! कौन कह देगा कि यह इतना पैसे वाला है ? यह उम्र होने आयी, सुबह से शाम तक बस पैसे के पीछे हाय-हाय! दुनिया के किसी और काम से इसे मतलब ही नहीं है। सभा हो, सोसाइटी हो, हड़ताल हो, छुट्टी हो, कुछ भी हो—लेकिन लाला रूपाराम अपनी ही धुन में मस्त! नौकरों को कम से कम देना पड़े, इसलिये खुद ही उनके काम को देखता है। मुझसे तो कुछ इसलिये नहीं कहता कि मुझ पर तो थोड़ा विश्वास है, दूसरे मेरी जरूरत सबसे बड़ी है। लेकिन बाकी हर नौकर रोता है इसके नाम को। और मजा यह कि सब जानते हैं कि झक्की है। कोई इसकी बात को ध्यान से सुनता नहीं। बाद में सब इसका नुकसान करते हैं, आस-पास के सभी हँसते और गालियाँ देते हैं……।"

"बच्चे कितने……हैं ?" चौकीदार को इन बेकार की बातों में बहकता देखकर गोविन्द ने सवाल किया।

"उसी बात पर आता हूँ", चौकीदार इतमीनान से बोला, "सच

बाबूजी, मैं यह देख-देख कर हैरान हूँ कि इस उम्र तक तो इसने यह दौलत जुटायी है, अब इसका यह कम्बख़्त करेगा क्या ? लोग जमा करते हैं कि बैठ कर भोगें, लेकिन यह राक्षस तो जमा करने में ही लगा रहता है। इसे जमा करने की ऐसी हाय हाय रही है कि दौलत किसलिये जमा की जाती है, इस बात को यह बेचारा बिलकुल भूल गया है।" फिर बड़े चिन्तित और दार्शनिक मूड में दिलावरसिंह ने आग वाली राख को देखते हुए कहा, "इस उम्र तक तो इसे जोड़ने की ऐसी हवस है, अब इसका यह भोग कब करेगा ? सचमुच बाबूजी, जब मैं कभी सोचता हूँ तो बेचारे पर बड़ी दया आती है। देखो, आज की तारीख तक यह बेचारा भाग-दौड़ कर, लू—धूप की चिन्ता छोड़ कर, जमा कर रहा है। एक पाई उसमें से खा नहीं सकता, जैसे किसी दूसरे का हो—अब मान लीजिये, कल यह मर जाता है तो यह सब किसके लिये जमा किया गया ? बेचारे के साथ कैसी लाचारी है, मर कर—जी कर, नौकर की तरह जमा किये जा रहे हैं, न खुद खा सकता है, न देख सकता है कि कोई दूसरा छू भी ले—जैसे धन के ऊपर बैठा साँप, आप उसे खा नहीं सकता, खाने तो ख़ैर देगा ही क्या ? उसकी रखवाली करना और जोड़ना........।" और लाला रूपाराम के प्रति दया से आभिभूंत होकर चौकीदार ने एक गहरी साँस ली, फिर दूसरे ही क्षण दाँत किटकिटाता हुआ बोला, "और कभी-कभी मन होता है छुरा लेकर साले की छाती पर जा चढ़ूं और मुरब्बे के आम की तरह गोदूँ। अपने पेट में जो इसने इतना धन भर रखा है उसकी एक-एक पाई उगलवा लूँ—चाहे खुद न खाये, जिसे अपने बच्चों को भी खिला-पिला नहीं सकता, उस धन का होगा क्या ?"

"इसके बच्चे कितने हैं.......?" इस बार फिर गोविन्द अधीर हो आया। असल में वह चाहता था कि इन दार्शनिक उद्‌गारों को छोड़कर वह जल्दी से जल्दी मूल विषय पर आ जाय। लक्ष्मी के विषय में बताये।

वर्णन में बह जाने की अपनी कमजोरी पर चौकीदार मुस्कराया और बोला—"इसके बच्चे हैं चार, बीवी मर गयी; बाकी किसी नातेदार, किसी रिश्तेदार को झाँकने नहीं देता, ऊपर कोई नौकर भी नहीं है। बस एक मरी मराई सी बुढ़िया पाल ली है, लोग बड़े भाई की बीवी बताते हैं। बस वही सारी देखभाल करती है। और तो किसी को मैंने साथ देखा नहीं। बस खुद, तीन लड़के और एक लड़की........।"

"बड़े दो लड़के तो साथ नहीं रहते न........।" इस बार मिस्त्री बोला।

हाँ, वे लोग अलग ही रहते हैं, दिन में एकाध चक्कर लगा देते हैं। एक

जूतों का कारखाना देखता है, दूसरा साबुन की फैक्ट्री सम्हालता है। इस साले को उन पर भी विश्वास नहीं है। पूरे कागज-पत्तर, हिसाब-किताब अपने पास ही रखता है, नियम से शाम को वहाँ जाता है वसूली करने। लेकिन लड़के भी बड़े तेज हैं, जरा शौकीन तबियत पाई है। इसके मरते ही देख लेना मिस्त्री, वो इसकी सारी कंजूसी निकाल डालेंगे।" फिर याद करके बोला, और क्या कहा तुमने? साथ रहने की बात, तो भैया, जब तक अकेले थे, तब तक तो कोई बात ही नहीं थी, लेकिन अब तो उनकी बीबियाँ आ गई हैं न, एकाध बच्चा भी आगया है घर में, सो उसे दिनभर गोदी में लटकाये फिरता है। इसके घर में एक चण्डी जो है न, उसके साथ सबका निभाव नहीं हो सकता न।"

एकदम गोविन्द के मन में आया लक्ष्मी! और वह ऊपर से नीचे तक सिहर उठा। "कौन? लक्ष्मी!" उसके मुँह से निकल गया। "जी हाँ, उसी की बदौलत तो यह सारा खेल है, वही तो इस भण्डारे की चाबी है। वह न होती तो यह सब ताम-झाम आता कहाँ से! उसने तो इसके दिन पलट ही दिये, नहीं तो था क्या इसके पास?" इस बार यह बात चौकीदार ने ऐसे लटके से कही, जैसे सचमुच किसी रहस्य की चाबी दे दी हो।

"कैसे भई, कैसे!" गोविन्द पूछ बैठा। उसका दिमाग चकरा गया। यह क्या विरोधाभास है। एक पल को उसके दिमाग में आया—कहीं यह रुपया कमाने के लिये तो लक्ष्मी का उपयोग नहीं करता! राक्षस! चाण्डाल!

उसकी व्याकुलता पर चौकीदार फिर मुस्कराया, बोला—"बाप तो इसका ऐसा रईस था नहीं, फिर वह कच्ची गृहस्थी छोड़कर मर गया था। ज्यादा-से ज्यादा हजार-हजार रुपया दोनों भाइयों के पल्ले पड़ा होगा। शादियाँ दोनों की हो ही चुकीं थीं, कुछ कार-वार खोलने के विचार से यह सट्टे में अपने रुपये दूने-चौगुने करने जा पहुँचा तो सारे गँवा आया। बड़े भैया रोचूराम ने एक पनचक्की खोल डाली। पहले तो उसकी भी हालत डावाँडोल रही थी, लेकिन सुनते हैं कि जब से उसकी लड़की गौरी पैदा हुई उसकी हालत सम्हलती ही चली गयी। यह उसी के यहाँ काम करता था, मियाँ-बीबी वहीं पड़े रहते थे। ऐसा कुछ उस लड़की का पाँव आया कि लाला रोचूराम सचमुच के लाला होगये। इन लोगों के बड़े-बूढ़ों का कहना था कि लड़की उनके खानदान में भागवान होता है। अब तो यह अपना लाला कभी इस ओझा के पास जा, कभी उस पीर के पास जा, कभी इसकी 'मानती', कभी उसका 'सङ्कल्प'—दिन-रात बस यही कि 'हे भगवान मेरे लड़की हो!' और पता नहीं कैसे भग-

बान ने सुन ली और लड़की ही गयी। और आप विश्वास नहीं करेंगे, फिर तो सचमुच ही रूपाराम के नक्शे बदलने लगे। पता नहीं, गढ़ा हुआ मिला या छप्पर फाड़ कर मिला—लाला रूपाराम के सितारे फिर गये…। इसे विश्वास होने लगा कि यह सब इसी की कृपा है और वास्तव में यह कोई देवी है। इसने उसका नाम लक्ष्मी रखा और साहब कहना पड़ेगा कि वह लक्ष्मी सचमुच लक्ष्मी ही बनकर आयी। थोड़े दिनों में ही 'लक्ष्मी फ्लोर मिल' अलग बन गयी। अब तो इसका यह हाल कि यह मिट्टी भी छू दे तो सोना बन जाय और कङ्कड़ को उठाले तो हीरा दीखे। फिर आ गई लड़ाई इसके पंजे-छक्के हो गये। इसे ठेके मिलने लगे। समझिये एक के बाद एक मकान खरीदे जाने लगे—सामान लाने-लेजाने वाले ट्रक आये। उधर रोचूराम भी फल रहा था, और दोनों भाई गर्व से कहते थे—हमारे यहाँ लड़कियाँ लक्ष्मी बनकर ही आती हैं। लेकिन फिर एक ऐसा वाक़या हो गया कि तस्वीर की शक्ल ही बदल गयी…"

चौकीदार दिलावर सिंह जानता था कि यह उसकी कहानी का क्लाइमेक्स है इसलिये श्रोताओं की उत्सुकता को झटका देने के लिये उसने उँगलियों में दबी व्यर्थ जलती बीड़ी को दो-तीन कश लगाकर खत्म किया और बोला—

"गौरी शादी लायक हो गयी थी। शायद किसी पड़ोसी लड़के को लेकर कुछ ऐसी-वैसी बातें भी लाला रोचूराम ने सुनीं, और लोगों ने भी उँगलियाँ उठाना शुरू कर दिया तो उन्होंने गौरी की शादी कर दी। बस उसकी शादी होना था कि जैसे एकदम सारा खेल उखड़ गया। उसके जाते ही लाला एक बहुत बड़ा मुकदमा हार गया और भगवान की लीला देखिये उन्हीं दिनों उसकी पनचक्की में आग लग गयी। कुछ लोगों का कहना तो यह है कि किसी दुश्मन का काम था, जो भी हो, बड़े हाथी की तरह जो इकबारगी गिरे तो उठाना दुश्वार हो गया। लोग रुपये दाब गये और उनका दिवाला निकल गया। दिवाला क्या जी, एक तरह से बिल्कुल मटियामेट हो गये। सब कुछ चौपट हो गया और छल्ला-छल्ला बिक गया। एक दिन लालाजी की लाश तालाब में फूली हुई मिली। अब तो हमारे लाला रूपाराम को साँप सूँघ गया, उनके कान खड़े हुए और लक्ष्मी पर पहरा बैठा दिया गया। उसे स्कूल से उठा लिया गया और वह दिन सो आज का दिन, बेचारी नीचे नहीं उतरी। घर के भीतर न किसी को आने देता है न जाने देता है। मास्टर रखकर पढ़ाने की बात पहले उठी थी, लेकिन जब सुना कि मास्टर लोग लड़कियों को बहकाकर भगा ले जाते हैं तो वह विचार एकदम छोड़ दिया गया। लक्ष्मी खूब रोयी-पीटी, लेकिन इस राक्षस ने उसे भेजा ही नहीं। सुनते हैं लड़की देखने दिखाने लायक…"

बात काट कर मिस्त्री बोला, "अरे, देखने दिखाने लायक क्या, हमने खुद देखा है, जिधर से निकल जाती उधर बिजली सी कौंध जाती। सौ में एक·········।"

उसकी बात का विरोध न करके अर्थात् स्वीकार करके चौकीदार बोला, "स्कूल में भी सुनते हैं बड़ी तारीफ थी। लेकिन सब का साले ने सत्यानाश कर दिया। उसे यह विश्वास हो गया कि यह लड़की सचमुच लक्ष्मी है और जब वह दूसरे की हो जायगी तो एकदम इसका भी सत्यानाश हो जायगा। इसी डर से न तो किसी को आने जाने देता है और न उसकी शादी करता है। उसकी हर बात पर पुलिस के सिपाही की तरह नजर रखता है। उसकी हर बात मानता है। बुरी तरह उसकी इज्जत करता है, उसकी हर जिद पूरी करता है, लेकिन निकलने नहीं देता। लक्ष्मी सोलह की हुई, सत्रह की हुई अठारह-उन्नीस·······साल पर साल बीत गये। पहले तो वह सबसे लड़ती थी। बड़ी चिड़चिड़ी और जिद्दी हो गयी थी। कभी-कभी सबको गाली देती और मार भी बैठती थी, फिर तो मालूम नहीं क्या हुआ कि घण्टों रात-रात भर पड़ी जोर-जोर से रोती रहती, फिर धीरे-धीरे उसे दौरा पड़ने लगा·······।"

"अब क्या उम्र है ?" गोविन्द ने बीच में पूछा। "उसकी ठीक उम्र तो किसी को भी पता नहीं, लेकिन अन्दाज से पचीस छब्बीस से कम क्या होगी ?" घृणा से ओठ टेढ़े करके चौकीदार ने अपनी बात जारी रखी, "दौरा न पड़े तो बेचारी जवान लड़की क्या करे ? उधर पिछले पाँच-छः साल से तो यह हाल है कि दौरे में घन्टे-दो घन्टे वह बिल्कुल पागल हो जाती है। उछलती-कूदती है, बुरी-बुरी गालियाँ देती है, बे मतलब रोती हँसती है, चीजें उठा-उठा कर इधर-उधर फेंकती है। जो चीज सामने होती है उसे तोड़ फोड़ देती है। जो हाथ में आता है उससे मार पीट शुरु कर देती है और सारे कपड़े उतार कर फेंक देती है, बिलकुल नंगी हो जाती है और जाँघे और छाती पीट-पीट कर बाप से कहती है—'ले, तूने मुझे अपने लिए रक्खा हैं, मुझे खा, मुझे चबा, मुझे भोग......।' यह पिटता है, गालियाँ खाता है और सब कुछ करता है, लेकिन पहरे में जरा ढील नहीं होने देता। क्या जिन्दगी है बेचारी की ? बाप है सो उसे भोग नहीं सकता और छोड़ तो सकता ही नहीं। मेरी तो उम्र नहीं रही, वर्ना कभी-कभी मन होता है ले जाऊँ भगाकर, होगा सो देखा जायगा.......।" और एक तीखी व्यथा से मुस्कराता हुआ चौकदार देर तक आग को देखता रहा, फिर धीरे से ओठ चबाकर बोला, "इसकी तो बोटी-बोटी

गर्म लोहे से दागी जाय और फिर टिख्टी बाँध कर गोली से उड़ा दिया जाय.......।"

गोविन्द का भी दिल भारी हो आया था। उसने देखा, बुड्ढे चौकीदार की गीली आँखों में सामने की बरोसी की धुँधली आग की परछाईं झल-मला रही है।

आधी रात को अपनी कोठरी में लेटे लक्ष्मी के बारे में सोचते हुए, मोमबत्ती की रोशनी में उसकी सारी बातों का एक-एक चित्र उसकी आँखों के आगे साकार हो आया और फिर उसने अन्धकार की प्राचीरों से घिरी, गर्म-गर्म आंसू बहाती मोमबत्ती की धूँधली रोशनी में रेखाङ्कित पंक्तियाँ पढ़ीं—

"मैं तुम्हें प्राणों से अधिक प्यार करती हूँ।"

"मुझे यहाँ से भगा ले चलो.......।"

"मैं फाँसी लगाकर मर जाऊँगी........।"

गोविन्द के मन में अपने आप एक सवाल उठा, क्या मैं ही पहला आदमी हूँ जो इस पुकार को सुनकर ऐसा व्याकुल हो उठा हूँ या औरों ने भी इस आवाज को सुना है ? और सुनकर अनसुना कर दिया है—और क्या सच-मुच जवान लड़की की आवाज को सुनकर अनसुना किया जा सकता है ?

———

या चौरी तैरा ही आसरा!
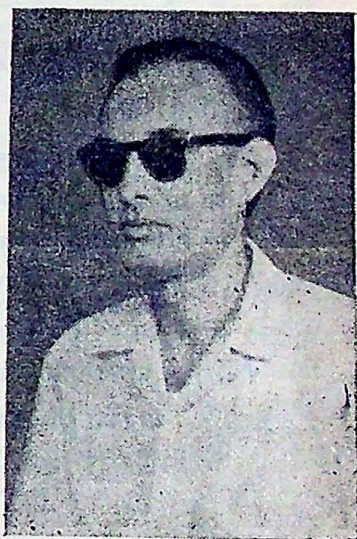
गोपाल सिंह चौहान

रामगोपालसिंह चौहान

जन्म—५ मई १९२५, आगरा।

सन् १९३५–३६ में इलाहाबाद में बड़े भाई शिवदानसिंह चौहान (हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक) और रामचन्द्र द्विवेदी 'प्रदीप' (सिनेमा के प्रसिद्ध गीतकार) एक हस्तलिखित मासिक पत्रिका निकालते थे। प्रदीपजी राजा-रानियों की कहानी सुनाते और फिर लिखने को कहते और उसे ठीक कर हस्तलिखित पत्रिका में निकालते। इस तरह लिखने का चाव पैदा हुआ।

सन् १९३८ में शाहजहाँपुर जाना पड़ा। वहाँ अपने प्रयास से 'हलचल' नाम से हस्त लिखित पत्रिका निकाली जो तीन वर्ष तक निरन्तर निकलती रही। सन् १९४१ में जब आगरा कालेज में इन्टर की पहिली साल में थे—तो पहिली कहानी 'नया आदमी' प्रकाशित हुई, जो पहिले हस्तलिखित पत्रिका में निकल चुकी थी। तब से कहानी, एकाङ्की और आलोचनात्मक निबन्ध बराबर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं।

'नया आदमी' कहानी के आधार पर आपने एक उपन्यास लिखा जो अभी प्रकाशित नहीं हुआ है। अनेक अंग्रेजी उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद तथा 'हिन्दी गद्यकार और उनकी शैलियाँ' एवं 'भारतेन्दु साहित्य' आलोचनात्मक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

दस वर्ष तक १९४२ से ५२ तक राजनीति (कम्यूनिस्ट पार्टी) में सक्रिय भाग लिया जिसमें कई बार जेल भी गये।

आजकल आगरा कालेज के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक हैं।

या चोरी तेरा ही आसरा

[श्री रामगोपालसिंह चौहान]

कुछ मनुष्य ऐसे भी होते हैं जो पहिली मुलाकात में ही दूसरों को अपना बना लेते हैं और स्वयं दूसरों के हो जाते हैं। रामू ऐसे ही लोगों में से था, सीधा-साधा, सरल प्रकृति का मनुष्य, हर स्थिति में मस्त रहने वाला।

अभी उसे हमारी बैरिक में आये कुछ ही दिन हुए थे; पर हम सब में ऐसा घुल-मिल गया था; मानों बहुत दिनों का परिचित हो अथवा एक ही परिवार का हो। जेल का जीवन एक परिवार का ही जीवन तो है। जेल एक घर है और उसमें रहने वाले कैदी उस परिवार के सदस्य। ठीक परिवार की ही तरह से छोटी-छोटी बातों पर झगड़ा, मान-मनावन और फिर दाँत काटे की रोटी सी बेलौस मुहब्बत।

रामू ऐसा था जिसकी सबसे पटती थी, नम्बरदार और जमादार से लेकर साथी कैदियों तक से। वह उन्हें गाना सुनाता, उनका जी बहलाता और जेल की पत्थर की नीरस सीमा के भीतर सब के दिलों में रस उत्पन्न करता, एक तरङ्ग और हूक भरता। उसके रहते सारे गुम-सुम वातावरण में एक सजीवता सी छाई रहती। निश्चय ही अगर उसे अवसर मिला होता तो वह एक कलाकार होता। पर होता ही क्योंकर ?

लेकिन कलाकार तो वह अब भी है। न सही गाने में जो उसका पैदायशी गुण है। उसमें तो उसे आगे बढ़ने का औसर ही न मिला। अब वह कलाकार है चोरी का। वह बात-बात में कहा करता—"या चोरी तेरा ही आसरा है।" और हँस दिया करता। कुछ ऐसी हँसी जिसमें मन की तड़पन को छिपाने का प्रयास होता। चाहे-अनचाहे जैसे भी चाहो समझो चोरी ही अब उसके जीवन का एक उद्देश्य बन गया है। यही सब की निगाह में आता है। उसकी तड़पन को कौन जाने ? कौन देखे ? वह तो भीतर है। छिपी हुई है। जो बाहर है, आँखों के सामने है, वही देखी जायगी। सामने से है वह चोर। उसे चोर ही कहा जायगा। चोर के साथ जो व्यवहार होता है—घृणा का और पकड़कर जेल में बन्द कर देने का, वही उसके साथ भी होता है और होगा भी। हो क्यों न, वह चोर जो ठहरा। उसके मन की इन्सानी मरोड़ को कोई नहीं देखेगा।

सागर की तह में कितनी उथल-पुथल मची होती है, इसे क्या कोई उसकी निश्चल सतह से आँक सकता है ? वह उसे अन्दर ही अन्दर घोंट कर ऊपर से एक-सार रहता है। जब रामू कहता 'यहाँ तो बन्दे का एक ही नारा है, एक ही रास्ता है—चोरी।' तब उसके चेहरे पर जरा भी शिकन न आती। लोग समझते बड़ा बेशरम चोर है, पक्का चोर है, घुटा-घुटाया।

पर मैं सोचता, आखिर यह चोर हो कैसे सकता है ? कहाँ इसका सरल, सीधा और मधुर स्वभाव और कहाँ चोरी ?

अनेक बार मैंने उससे कौतूहल से पूछा—'क्यों भाई रामू—आखिर तुम बाहर करते क्या थे ?"

उसका संक्षिप्त उत्तर होता—'या चोरी तेरा ही आसरा है।' कह कर वह मुस्करा देता, वैसी ही मन की घुटन को दबाती सी मुस्कराहट ; जिससे मेरा कौतूहल और भी बढ़ जाता और मैं उसकी बात पर विश्वास न कर पाता। जब कभी पूछता 'छूटकर क्या करोगे ?' तब भी उसका वही संक्षिप्त उत्तर होता।

इन्सान बहुधा जिन्दगी में परिस्थितियों के सघन कुहासे में राह-कुराह हो जाता है। अगर उसकी आत्मा में राह पाने की तड़प है ; दबी मृतप्रायः भले ही क्यों न हो। वह राह पर न भी आ पाय तो भी जिन्दगी को आगे बढ़ाया जाता है और नहीं तो कुहासे में भटक-भटकाकर वहाँ का वहीं रह जाता है।

रामू ने जब से होश सम्हाला था तब से ही उसे मजूरी करनी पड़ी थी। तब उसका बाप जिन्दा था और सूती मिल में मजदूरी करता था। रामू की जो उमर उठान की थी उसमें ही उसे दिन भर काम करना पड़ता। बाप के मरने के वक्त तक वह पक्का कमकर बन गया था और उसके चेहरे पर प्रौढ़ता के चिह्न स्वरूप रेखायें उभड़ आयीं थीं।

उसका बाप मरते वक्त अपने पीछे रामू के सिर पर अपनी जिन्दगी के खचड़े को ढकेलने के साथ उसकी माँ, दो बहिनें और एक छोटे भाई की पूरी गिरस्ती की जिम्मेदारी छोड़ गया था। मुर्दे पर जैसे सेर भर वैसे ही सवा सेर कोई अन्तर नहीं पड़ता। मजूर का जीवन ही, अपना हो या पराया, भार ढोने के लिए ही होता है। रामू अपनी गिरस्ती के खचड़े को ज्यों का त्यों खींचता ले जा रहा था। शायद गिरता-उठता ईमानदारी से किनारे भी लग जाता।

लेकिन ! जो लेकिन उसकी जिन्दगी की एक भयंकर मोड़ बन कर उसके जीवन में आयी। मालिक ने मिल बन्द कर दी और वह बेकार होगया।

क्यों बन्द करदी ? इसका उत्तर पाने का आपको हक़ नहीं। किसी को भी नहीं। मिल मालिक की है। वह उसका राजा है। अपना नफ़ा-नुक-सान जानता है। जो अपने हित में समझेगा करेगा। आप कौन होते हैं पूछने वाले ? उसका मन, उसने बन्द कर दी। मजदूर बेकार होंगे ? उसकी बला से ! उसकी मिल में जो कपड़ा भरा पड़ा है उसे बेचकर वह जो दूना नफ़ा कमाएगा, सो !

पत्थर जब तक दरिया की धार में रहता है, उसके थपेड़े खाता हुआ, घिसता-घिसाता अपनी हस्ती को मिटाता रहता है पर रहता एक जगहपर है। उससे अलग होकर घिसना भले बन्द हो जाय पर रह जाता दर-बदर का, बेठिकाने का।

रामू बेदर होगया। बेठिकाने होगया। मिल से अलग होने के बाद कुछ अरसे तक तो वह इधर-उधर काम की तलाश में दौड़-धूप करता रहा। कहीं ठौर न मिला। उस दौड़-धूप में जैसे-जैसे दिन बीतते जाते, घर की तबाही और संकट अपने पंजे मज़बूती से जकड़ते जाते। अन्त में काम की तलाश से मुँह मोड़ उसने एक खोंचा लगाना आरम्भ किया। वह अपना खोंचा लेकर स्टेशन के पास वाली सड़क पर बैठने लगा। अभी कुछ ही दिन उसे वहाँ बैठे हुए थे। जैसे-तैसे सवेरे से काफी रात गए तक बैठने पर कुछ गुजारे लायक कमा लेता। तभी उसके लिए मुसीबत का एक नया परवाना आ पहुँचा। सड़क सकरी है, और स्टेशन के लिए आम रास्ता है। खोंचों से भीड़ बढ़ जाती है और भीड़ से रास्ता रुक जाता है। वहाँ कोई नहीं बैठने पायगा। बात सही है और यह भी सही है कि रामू के सामने फिर समस्या खड़ी हो गई—अब क्या करे ? कहाँ अपने छकड़े को लेकर बैठे ?

कभी-कभी इन्सान की जिन्दगी में ऐसी घटनाएँ हो जाती हैं, जिनकी उसे स्वप्न में भी आशा नहीं होती। लेकिन वह घटना जीवन में ऐसी मज़बूत थाला जमाकर बैठ जाती है कि उसके जीवन-बिरवे को फिर उसी से रस लेकर बढ़ना होता है। और कोई चारा ही नहीं रह जाता।

अब उसने चाय बेचनी शुरू कर दी थी। एक दिन आधी रात का वक्त था वह नई सड़क पर सिनेमा के सामने अँगीठी को तार में लटकाए और अँगीठी पर पतीली रखे दूसरी टोकरी में कुल्हड़ लिए चाय बेच रहा था।

सिनेमा का दूसरा शो खतम होगया था। और सिनेमा देखने वालों की भीड़ इधर-उधर जा रही थी। कुछ लोग उसके पास भी आकर चाय पीने लगे थे। रहमान भी उसके पास चाय पीने आया। दोनों ने एक दूसरे को

पहचाना। दोनों एक साथ ही मिल में काम करते थे। काम से अलग किए जाने के बाद यह उन दोनों की पहिली ही मुलाकात थी।

उसे देखते ही रामू ने कहा—"अरे यार रहमान, तुम कहाँ? बहुत दिनों पर मिले हो!"

"हाँ! कुछ दिनों के लिए बाहर चला गया था। अब यहीं आगया हूँ। कहो तुम कैसे रहे? यह चाय कब से बेचनी शुरू करदी?"

"अभी थोड़े ही दिनों से। क्या करता! बहुत तलाश किया। फिर हार कर यही करना पड़ा। अच्छा⋯⋯तुम अपनी कहो! कहीं काम-वाम मिल गया दिखता है।"

"हाँ यहीं समझो।"

"अच्छा लो चाय तो पियो।"

"सो तो पीयेंगे ही।⋯⋯कैसी कट रही है?"

"देखते तो हो। रोज़ कुँआ खोदना और रोज़ पानी पीना चल रहा है।"

"क्यों क्या बिक्री नहीं?"

"हो कहाँ से! एक-दो चाय बेचने वाले हों तो बिक्री भी हो। चाय के होटलों की तो बात छोड़ो। सैकड़ों तो ठेलों पर चाय बेचते हैं, फुटपाथों पर दूकान लगाये बैठे हैं और हम जैसे टुकड़िहा चाय बेचने वालों की तो बात ही मत पूछो।⋯तुम अपनी कहो।"

"हमारी कुछ मत पूछो। कुछ दिन तो बेकारी में कटे, फाकेमस्ती रही और फिर यह धन्धा कर लिया।" कहते हुए रहमान ने अपने दाहिने हाथ की दो उगलियों की कैंची चलाते हुए अपनी बात का आशय स्पष्ट किया और मुस्कुरा दिया।

"लेकिन यह काम है तो बहुत बुरा। न जाने कितने गरीबों की जेब काटते होगे!"

"रहे यार तुम पूरे झपसट ही। जेब किसकी कौन नहीं काटता। मिल मालिक मजदूरों की, दूकानदार गाहक की, पुलिस वाले हमारी-तुम्हारी, सबकी और हम किसी और की। सभी गिरहकट हैं, रामू!"

"लेकिन यार, कभी पकड़े जाओ तो⋯⋯है बड़ा जलील काम।"

"कौन पकड़ेगा? ये सिपाही? मैंने कहा नहीं, यह सब गिरहकट होते हैं। चोर के भाई गिरहकट! और कभी पाँसा उलटा पड़ ही गया और पकड़े गए, तो क्या! कुछ दिन जेल की ही रोटी जा खाई। वहाँ भूखों मरने से तो अच्छे ही रहेंगे।⋯⋯अच्छा, अब चले; फिर मिलेंगे।⋯यहीं मिलते हो न!"

रामू अपनी चाय की डोलची और कुल्हड़ों की डलिया उठाकर घर आया। उसके मन में एक कीड़ा अनायास ही घुस आया था और न चाहते हुए भी उसका मन रहमान की बातें सोचने लग जाता था। बरबस अपने मन को उधर से हटाता, पर फिर-फिर कर वही विचार आ जाते। बूढ़ी माँ, बहिनें जिनकी उमर बरसाती नदी की तरह बढ़ रही थी, भाई की कच्ची उमर और वह हाड़ माँस का अकेला पिंजर ! वह सोचता रहा। जीवन की सारी घटनावलि उसके मानस पट पर चल-चित्र की तरह एक के बाद एक आती गई—नौकरी से निकाला जाना, काम की तलाश में भूखों मारा-मारा घूमना, मैनेजर का उसकी बहिन की ओर ललचाई आँखों से देखते हुए काम देने का वायदा करना, मैनेजर द्वारा गुण्डों से उसकी बहन को जबरदस्ती उठवा ले जाने की कोशिश करना, और......और......और एक दिन आधी रात के बाद किसी अज्ञात प्रेरणा से उसके कदम एक मकान की तरफ़ बढ़ते जाना, मैनेजर का गला दबोचना, तिजोरी से अनगिनित नोटों की गड्डी लेकर लौट आना।...फिर...फिर...नया घर,...नए कपड़े, नए ऐश।....वह आत्म-विभोर हो उठा।...एकाएक उसे दरवाजे की कुण्डी खटकती जान पड़ी। दूसरे ही क्षण उसने देखा कि चार सिपाहियों ने उसे दबोच लिया है। वह जेल भेज दिया गया है।....यहीं पर उसके विचारों का ताँता टूट गया और एक झटके के साथ वह जग पड़ा। माथा पकड़ कर वह चारपाई पर बैठ गया। माथे पर पसीने की बूँदें आ गई थीं। साँस तेज़ चल रही थी। उसके मुँह से एक दृढ़ स्वर निकला—"नहीं मैं ऐसा नहीं कर सकता।" और थोड़ी देर बाद शान्त होकर वह फिर लेट गया; पर सो न सका।

कई दिनों तक उसका मन उद्विग्न रहा। रहमान जब-तब उससे मिलता, उसके घर भी आता। पता नहीं कब और कैसे, वह स्वयं नहीं जानता, शायद मैनेजर से बदला लेने की बात से, या ऐश और आराम की आत्मविभोरता से प्रेरित होकर, वह एक दिन रहमान के साथ जिन्दगी की नई राह पर चल दिया। उस राह पर, जिसका पहिले दिन का विश्राम ही एक सब्ज़ बाग में था। राह पर कदम रखते समय उसके कदम डगमगा रहे थे। राह अनजानी जो थी। पर उस राह का एक दिलेर माहिर उसके साथ था। उसने उसे सहारा दिया। पहिले दिन की मञ्जिल उसने कामयाबी से पार की। अब उसके कदमों में कुछ दृढ़ता आई; हृदय का कम्पन रुका और वह निरन्तर बढ़ता ही गया। कुछ दिनों बाद ही उसके कदमों में इतनी शक्ति आगई कि वह उस राह पर अकेला चल पड़ा।

एक दिन एकाएक पुलिस वालों ने उसे पकड़ लिया और जेल भेज दिया। पहिले का वह सपना उसके दिमाग में घूम गया। वह पछताने लगा। उसे छः महीने की सज़ा हो गई।

जेल में उसने अपना जुर्म किसी से छिपाया नहीं। जब कोई उससे पूछता—"क्यों भाई तुम काहे जुरम में आए हो ?" तो उत्तर देते समय शर्म से उसका माथा नीचा हो जाता और कहता—"यह मेरी पहली ही गलती है। अब छूटने पर कभी ऐसा नहीं करूँगा।" दूसरे कैदी उसका उत्तर सुनकर ठहाका मार कर हँस देते। उनकी हँसी में एक तीखा व्यंग होता, जिसकी चोट से रामू आहत हो तिलमिला कर रह जाता और अपने किए पर पछताता-सा वहाँ से सिर नीचा किए चला जाता।

उसने अपने जेल आवास के छः महीनों में अनेक बार प्रतिज्ञा की कि वह अब ऐसा कभी नहीं करेगा। अपने किए पर ग्लानि के कारण वह किसी से खुल कर घुल-मिल भी न पाता। इसी तरह जैसे तैसे कर उसके छः महीने कट गए।

जेल से निकल कर फाटक पर खड़े होकर उसने जेल को नमस्कार किया और कहा—"परमात्मा अब कभी जेल का मुँह मत दिखाना।" फिर उलट कर ऐसा तेज भागा, मानों कोई उसे फिर पकड़ कर जेल में बन्द करने के लिए उसका पीछा कर रहा हो।

जेल से आकर उसने अपनी जिन्दगी को नए सिरे से आरम्भ करना चाहा। पर क्या करे ? यही प्रश्न फिर उसके सामने आ खड़ा हुआ और जितना वह उस पर सोचता उतना दीर्घ होकर यह प्रश्न उसके सामने विकराल रूप धारण कर खड़ा हो जाता।

अभी उसे जेल से आए एक महीना ही मुश्किल से बीता होगा कि एक दिन रात को जब वह काम की तलाश की आपा-धापी में बदहवास लौट रहा था कि दफ़ा १०९ में पुलिस वालों ने उसे फिर पकड़ लिया। पुलिस वालों को उसके एक बार के जेली होने, उसकी बेकारी और बदहवासी की हालत में रात को घूमने के आगे और किसी सबूत की आवश्यकता न थी। उसका चालान होगया, सजा हो गई और बस फिर दूसरी बार उसी जेल में पहुँच गया।

पहिली बार जब वह जेल आया था तो मन में यह पछतावा लेकर आया था कि उसने चोरी का पाप किया है और अब की बार वह पछतावा लेकर आया कि कुछ करके ही आया होता तो भी बात थी।

इस बार जेल में उसे रहमान से भेंट हो गई। रहमान ने उसे देखते ही

उसका ऐसा स्वागत किया मानो कोई मेहमान आया हो। रामू को रहमान पर गुस्सा था। उसने उसकी जीवन-धारा को मोड़कर उसे उस राह का राही बनाया था। उसने रहमान के स्वागत का कोई उत्तर नहीं दिया, बस अनमना सा होकर रह गया। रहमान ने उसके पास आ उसके कन्धों को थपथपाते हुए पूछा—"कहो, यार अबकी कितनों पर हाथ साफ़ करके आए ?" और कनखियों से मुस्करा दिया। प्रश्न रामू के तीर सा चुभ गया। पर उसके मन की हालत ऐसी न थी कि वह उसकी बात का उत्तर देता। मन-मसोसकर रह गया। तभी उसके साथ आये नम्बरदार ने कहा—"कहाँ कुछ हाथ लगा ? बेचारा १०९ में पकड़कर आया है।"

"१०९ में !" रहमान ने सकते से में आकर कहा। थोड़ी देर अचकचाया-सा रहकर रहमान बोला—"यह कोई नई बात नहीं है। पुलिस वालों का तो पेशा ही यह है। इसी तरह वे आदमी को मजबूर कर चोर बनाते हैं, मेरे साथ भी यही हुआ था और दूसरी बार जेल से पक्का चोर होकर ही निकला।···अबकी बार तू भी पक्का होकर निकलेगा।" कहकर रहमान ठहाका मार कर हँस दिया।

रामू के दिन कटने लगे। वह अनमना तो अब भी शुरू से रहा, पर जैसे पहिले जेल-जीवन से उसकी पटरी ही न बैठ पाती सो बात न थी। अब की जेल की हर चीज उसे परिचित सी जान पड़ रही थी। उसका मन धीरे-धीरे पक्का होता जा रहा था। छूटने के समय तक वह वहाँ के जीवन से खूब हिल-मिल गया।

जब उसके छूटने का समय आया तो रहमान ने उससे कहा—जा तो रहे हो, पर चाहे कुछ करो या न करो, पुलिस फिर तुम्हें यहीं भेजेगी; तो फिर········।"

"कुछ करके ही क्यों न आया जाय।" मुस्कराते हुए रामू ने उत्तर दिया और बोला—"बस अब तो—या चोरी तेरा ही आसरा है।" कह कर वह जेल से बाहर चला गया।

———

रवैया बदल

राम मोहन राय खन्ना

राममोहनराय खन्ना

जन्म—१३ अक्टूबर १६२३, कालपी, जिला जालौन।

खन्नाजी को लिखने की रुचि बचपन से ही थी। इलाहाबाद के साहित्यिक वातावरण ने उसे और विकसित किया। इलाहाबाद में जब 'परिमल' की स्थापना हुई तो आप उसके स्थापकों और सक्रिय सदस्यों में रहे। उन दिनों आपकी रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हुईं पर न्याय-विभाग में नियुक्ति हो जाने के बाद लिखने का क्रम तो थोड़ा-बहुत चलता रहा पर प्रकाशन की ओर रुचि कम होगई।

आप आगरे में न्याय-विभाग में मुंसिफ़ हैं।

रज़िया-महल

[श्री राममोहनराय खन्ना]

....और....मेरी बच्ची रज़िया को सँभालना। हाय! बदनसीब माँ सिर्फ़ तीन साल ही प्यार कर सकी इसे। देखो नज़्मा......अपने वादे को न भूलना। इसी मुहर्रम के दिन ही तो, जब शहरू और रज़िया लड़ते हुए आये थे शिकायतें लेकर......तो मैंने रज़िया से कहा था, "शहरू, भैया से लड़ते नहीं; इनकी......हाँ......अपनी भाभीजान से लड़ना खूब, चुटकी काटना, चोटी खींचना, और फिर प्यार भी करना......और जब भइया के साथ तेरी भाभी थियेटर देखने जाया करें, तो तू साथ मत छोड़ा करना इन लोगों का.... और तब तेरे भइया और रानी भाभी तुझे भी एक अच्छा सा जोड़ीदार ढूँढ निकालेंगे। अगर अभी से इनसे लड़ोगी, तो हो चुकी......नज़्मा" और तमाम ऐसी ही बातें मैंने कही थीं; तब तुमने मेरी बच्ची को गोद में बिठाकर चूमते हुए कहा था, "नहीं मेरी बच्ची रज़िया। अम्मी झूठ कह रही हैं। मैं तो तेरा निकाह अपने शहरू से ही करूँगी, ताकि मेरा शहरू मेरी ही बहिन की लड़की के हाथ रहे, किसी ग़ैर छोकरी में बहक न सके।"........और तब मैंने और तुमने मस्जिद की तरफ़ हाथ करके इन दोनों के निकाह करने का वादा किया था........याद है न वह सब, नज़्मा। हाय! मेरी तमन्ना पूरी भी होगी क्या?"

नज़्मा के आँसुओं की भी लड़ी जारी थी,.......सिसकियाँ भरते हुए उसने रज़िया और शहरू को गोद में बिठा लिया। बुझते हुए दीपक में स्नेह डालने की चेष्टा करते हुए उसने कहा, "फ़िकर मत करो, हमशीरा! तुम्हारी रज़िया मेरी ही होकर रहेगी। उसे शहरू की बेग़म बनाकर रखूँगी अपनी आँखों के सामने........रोज़ बहिन, ख़ुदा ने चाहा तो रज़िया मेरी ही होकर रहेगी, जिन्दगी भर के लिए।"

........ससीम असीम में मिलने का प्रयत्न कर रहा था........पक्षी उड़ गया, प्रेम करने वालों के प्राँगण से दाने चुग कर, और घृणा करने वालों के आँगन से कंकड़ों की बौछार खाकर।

× × × ×

रोज़ों की बहार गई। चाँद निकल आया था। अब ईद मनाई

जायेगी। हज़रत मुहम्मद के अनुगामी आह्लाद के झूलों में झूल रहे थे, मस्त हो रहे थे। महीने भर फाके करके संयम से रहने के कारण उनकी इच्छायें दमन हो गई थीं; किन्तु राकेश की प्यारी-प्यारी कुमुदनी देखकर उनमें उभाड़ आ गया था।

उपवनों की लता-लता हरी पत्तियों का पंखा झल रही थी, गुलाब और बेला की भीनी-भीनी महक गुलिस्ताँ की मन्द-मन्द समीरण को चिपटा रही थी, जैसे व्याह कर लिया हो। ईद के मुबारकबाद दिये जा रहे थे। बच्चे बूढ़े, जवान सभी अपने-अपने हमजोलियों से गले मिल रहे थे; मुबारकवादी के जाम उड़ाये जा रहे थे।

तीन मुहर्रम देखी हुई रज़िया तेरह मुहर्रम और देखकर अलिफलैला बन गई थी। बीस बार ईद के चाँद देखा हुआ शहरयार भी बेताब हो रहा था इस समय........ईद के मुबारकबाद लेने वाला उसे मिल ही न रहा था। और यदि कोई था भी, तो ऐसा फूल जो केवल जैसे देखने के लिए ही बनाया गया हो, स्पर्श करने या सूँघने के लिए नहीं। किन्तु ईद के चाँद ने रोज़े रहने वाले व्रती की हार्दिक उलझन समझ ही ली।

बाग़ की एक घनी झाड़ी से रज़िया ने कोयली बनकर कुहूकू शुरू कर दी; जोड़ा तैयार तो था ही, राह देख रहा, तुरन्त फुदक कर पहुँच गया प्रेयसि के समीप। रेशम के शालू और पशमीने के सलवार कुरते में ढकी कली ने सन्ध्या की मन्द बयार के स्वागत के लिए खिलना आरम्भ कर दिया। अस्त होते हुए सूर्य से उत्पन्न श्यामता को अपने गोरे शरीर की चमक से दूर करती हुई वह शरमायी सी चुप खड़ी हो गई। शहरयार, राजकुमार शहरयार अब अधिक समय तक भाव-प्रवाह न रोक सका; धीरे से कह डाला, "ईद मुबारक हो।"

खोये से, गम्भीर स्वर में कुछ मुस्कराते हुए रज़िया ने उत्तर दिया, "खाली मुबारकबाद तो मैं न जाने कितने पा चुकी हूँ।" शहरू ने एक पुष्प चयन करते हुए कहा, "तो बेग़म साहबा साथ में कुछ तोहफ़ा चाहती हैं! अजी इस गरीब के पास तो सिर्फ यही फूल ही फूल हैं।"

बड़ी बड़ी लटों को मुख पर से हटाते हुए रज़िया ने चुटकी ली, "साहब, फूल से बहतर तोहफा और क्या हो सकता है, बशर्ते देने वाले का दिल भी उसी के मानिन्द पाक, मुलायम और बूपरस्त हो।"

अधखिले पुष्प को शहरू ने अपने मुँह से विकसित करने की चेष्टा करते हुए उसे बढ़ा दिया रज़िया की ओर; परन्तु उसने सामने अपने हाथ के स्थान पर बालों का जूड़ा कर दिया। जैसे शहरू के हृदय में ज्वार आ गया

हो; वह अपने को रोक न सका, और रजिया के कन्धों पर धीरे से हाथ रख कर भरे हुए गले से बोला, "रज़िया……तुम्हें सचमुच मुझसे मुहब्बत है ?" रज़िया ने मुस्कराते हुए जबाब दिया, "अजी राजा साहब ! सूरज डूब चुका है, बेघर भी घर बनाने की कोशिश कर रहे हैं; बेचारे फूल को बेघर करके उसे अब तक दूसरा घर नहीं दिया…ओफ़…जुदाई से कितना बेताब होगा वह !" शहरू ने हल्के से रज़िया के काले बालों में फूल खुरस दिया………… फ़व्वारे की नन्हीं-नन्हीं बूंदे चारों ओर उड़-उड़ कर खेल रही थीं; सिवारे के बीच फँसी रंग विरंगी मछलियाँ इठला रही थीं; और अशोक की गहरी पत्तियों से हवा छन-छन कर आ रही थी….।

× × + ×

मलिक साहब नगर के प्रमुख रईसों में से गिने जाते थे। वैसे तो वे अपने विगत् पिता की दो हज़ार रुपये मासिक आय की जागीर पा चुके थे, किन्तु अपनी स्वर्गीय पत्नी की माँ से लगभग पन्द्रह सौ रुपये की मासिक आय वाली सम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए वे घोर प्रयत्न करने लगे; और छः वर्ष की निरन्तर मुक़दमेबाज़ी करके वे उसमें सफल भी हुए थे। इस प्रकार मलिक साहब की मासिक आय पूरे साढ़े तीन हज़ार रुपये हो गई थी।

बिड़ला बन्धुओं ने अपनी असीम सम्पत्ति शिक्षालयों, तथा मन्दिरों के बनवाने में और छिपे-छिपे राजनैतिक कार्यों में सहायता करने में व्यय की है; डालमिया और सिंहानिया ने अपनी धनराशि हृदय से न सही तो कम से कम यश प्राप्त करने अथवा साम्यवादी के शब्दों में पूँजीवादी सत्ता बनाये रखने के लिए भूखों और मज़दूरों का विरोध ख़रीदने के लिए स्थान-स्थान पर अस्पताल और कुँए आदि बनवाने में खर्च की है; जवाहर लाल नेहरू ने अपने पिता का छोड़ा हुआ बैंक बैलैन्स हिन्दुस्तान के देहातों का दौरा करने में सर्फ़ किया है; किन्तु जनाब मलिक साहब अपनी भारी आय यदि सोने चाँदी की सिलों में परिवर्तित करके गहरे और सुरक्षित तहख़ानों में नहीं दफ़नाते थे, तो दानवीरों की भाँति ख्याति कमाने में भी नहीं लुटाते थे। किसी लखनवी नबाब की नस्ल के प्रसिद्ध हो जाने के कारण कुछ तो छः घोड़ों और उनपर अठारह सईस रखने में व्यय करते थे, कुछ मुहर्रम के दिनों में शर्बत और हलुवा बटवाने में व्यय कर दिया करते थे; किन्तु अधिक भाग अपने कुटुम्बियों तथा पड़ोसियों को कचहरी तक दौड़ाने में ख़र्च होता था……क़भी साले के मामू से तनातनी हो गई, और वह भी इसलिए कि उन्होंने अपने साहब जादे की शादी आपकी मर्जी के विरुद्ध की थी; कभी एक मकान छोड़कर ही रहने वाले भान्जे के चचा से

ढाई साल तक लड़ते रहे; किन्तु सर्वोपरि न्यायालय तक पहुँचने का अवसर अपने फुफेरे भाई के साथ पड़ा। शहरू के पिता खुरशेद अहमद साहब वैसे तो बड़े नेक तथा सरल हृदय थे, किन्तु ईट का उत्तर कंकड़ से अधिक समय तक न दे सके, पत्थर नहीं तो ईंट से ही देना पड़ा। दो पुस्तों की खानदानी खुराफ़ातें, नकीलों के मस्तिष्कों में उतारी जाने लगीं। इतना बड़ा परिवार दो समुदायों में विभाजित हो गया। मलिक साहब के साथ अधिक संख्या इसलिए थी, क्योंकि वे 'ग्यारहवीं शरीफ़ पर सभी को सपरिवार आमन्त्रित करते थे, किन्तु खुरशेद साहब केवल सीने से सीना मिलाकर ही विदा ले लिया करते थे। मलिक साहब और खुरशेद साहब को हाई कोर्ट की अधिक समय तक खाक़ नहीं छाननी पड़ी। जस्टिस देसाई की कृपा से निर्णय सात मास में ही सुना दिया गया। ख़ुरशेद साहब साफ़ बच गये, उल्टे मलिक साहब को ही दोनों पक्षोंका अभियोग व्यय का उत्तरदायी ठहराया गया, साढ़े तीन सहस्र की मासिक आय से मलिक साहब प्रीवी काउन्सिल तक पहुँचने के विचार कर सकते थे, किन्तु अन्य परिजनों के समझाने बुझाने पर उन्होंने ये विचार छोड़ दिये, और इधर खुरशेद साहब ने भी कहने सुनने पर अपना व्यय छोड़ दिया। एक तो फुफेरे भाई, दूसरे उत्तर दिशा से मिला हुआ बँगला, और सबसे अधिक अपनी स्वर्गीया पत्नी की ख़ुरशेद साहब की पत्नी से अटूट मैत्री को स्मरण करके मलिक साहब ने प्रतिद्वन्दी से बोलना तो बन्द नहीं किया, किन्तु हृदय में हिमालय की सबसे ऊँची शृंग से लेकर हिन्द महासागर की सबसे गहरी जल-राशि तक का अन्तर बना रहा।

× × × ×

"फूफीजान मैं ब्याह नहीं करूँगी।"

"नहीं बेटी, लड़कियाँ भी क्या अनव्याही रहती हैं। मैं इतने अरसे से समझा रही हूँ तुझे, लेकिन....।"

"तो क्या यह जरूरी है फूफी, कि व्याह किया ही जावे", गम्भीर होकर रजिया ने कहा।

"हाँ बेटी, ब्याह करलो, मजे से खाओ-पीओ, आराम से ज़िन्दगी बसर करो...इसी में बेटी ख़ानदान की बहबूदी है।...भला तुम्हीं सोचो, रजिया, तुम्हारे हाथ के लिए कितने जबान सर मार रहे हैं। उन्हीं में से किसी का... ...हाँ उसी का घर आबाद करो...।"

रजिया ने तुरन्त उत्तर दिया, "लेकिन, ज़िन्दगी का मनसब सिर्फ खाना-पीना ही नहीं है, फ़ूफीजान, दिल और दिमाग़ को भी तो अमन....।"

"तेरा मतलब ?" फूफी ने बात काटकर कहा।

"मेरा मतलब बिल्कुल साफ़ है। मैं एक जेल से छूटकर दूसरे जेल में नहीं जाना चाहती; बल्कि ये जेल तो कई मानी में बेहतर है—यहाँ पर नज्मा मौसी हैं, फ़ातिमा बीबी, अब्बाजान हैं, आप····और सभी तो अपने ही हैं।

फूफी भौचक्का होकर ये सब सुन रही थीं।

रज़िया कहती ही गई, "और वहाँ तो मेरा कोई न होगा, काला-काला बखतर, जिसमें से हवा भी गुज़रने से डरती हो, मछली के जाल की तरह दो सूराख़, जो तन्दुरुस्त आँखों को भी जल्द ही कमज़ोर बना दे, और फिर··· बड़ी ऊँची दीवालें, जिनके अन्दर सूरज भी आने में खौफ़ खाता हो···नहीं नहीं फूफीजान, मुझे रहने दो···यहीं, यहीं, मैं यहीं मज़े में हूँ···ओफ···उनके ···कड़े, सख्त और···नापाक हाथ···में कैसे जीती रहूँगी···उफ़।" सबका सब रज़िया एक साँस में कह गई।

फूफी बहुत घबड़ा गई रज़िया की इन बेचैन बातों को सुनकर। उन्होंने उसकी बातों में दर्द और व्यथा पाई तो अवश्य, किन्तु वे यह भी सहन न कर सकती थीं कि रजिया का परिणाम उनके मक़बूल से न हो, और उसकी इतनी बड़ी सम्पत्ति का स्वामी कोई दूसरा बन सके। यदि उनका मक़बूल ठीक उतना ही कुरूप था, जितना कि रज़िया रूपवती, तो वे अपने मन को सन्तोष देतीं कि खूबसूरती लड़के की नहीं देखी जाती। यदि वह केवल अपने हस्ताक्षर कर लेने की ही योग्यता रखकर ही मलिक साहब की सम्पूर्ण जागीर का प्रबन्ध कर लेने की डींगें हाँकता था, तो वे उसके कथन को सत्य ही मानतीं और किसी भी 'यूनीवर्सिटी ग्रेजुएट को नाचीज़' समझतीं। और यदि मक़बूल शराबी था, तथा कबूतरों और पतङ्गों का शौकीन था, तो वे उसकी इन आदतों में 'नवाबी खानदानों की तहज़ीब और शान की प्रतिछाया पातीं।

रज़िया के कानों में अक्सर उसके मक़बूल के साथ विवाहित कर दिये जाने की बातें पड़ जाती थीं, किन्तु यह सब कुछ जानती हुई भी चुप रहा करती थी। माँ की शिक्षा और प्यार के अभाव ने उसे समुचित रूप से निर्भीक न बनाया था। वह शहरू से प्रेम करती थी, बहुत अधिक, किन्तु अपने हृदय की व्यथा किसी पर प्रकट न होने देती थी। हाँ, कभी-कभी एकान्त में उसकी गहरी कसक अश्रुबिन्दुओं के रूप में फूट पड़ती थी—

फूफी ने बात नये सिरे से छेड़ना चाही, "बेटी रज़िया, अगर तुझे जेल के बजाय इससे भी ज्यादा खुले बँगले में रखा जावे, और काले-काले बख्तर से तुझे अलग हो रखा जावे, तो···?" भोली सी रज़िया फूफी की चाल शीघ्र

ही न समझ सकी, कह बैठी, "वाह फूफीजान, तब तो जिन्दगी में बहार आ जावे।"

फूफी ने अबकी लासा फेंका, "जीती रहो बेटी; मैं मक़बूल को मना लूँगी, वह तुझे सारे आराम मयस्सर करा देगा।"

मक़बूल का नाम सुनकर रज़िया सहम गई। उस नाम के साथ अब्दुल रहीम के नाम याद आगये···उनकी भयंकर 'शोख गुस्ताखियाँ' उसके नेत्रों के सामने नाचने लगीं···उसके सामने 'शराब, उफ लाल शर्बत वह खून की तरह···।' ओह! जैसे किसी अबला का वध करके एकत्र किया गया हो···और साक़ी वह स्वयं था···कड़वी हँसी, ये सब सोचकर रज़िया घबड़ा उठी, और विरोध कर बैठी तीव्र स्वर में, "फूफी! मैं यह ब्याह नहीं करूँगी···मक़, ओह!" रज़िया की आँखें घूम गयीं, बाल झुलस से गये, मुट्ठियाँ बन्द हो गईं, दाँत चिपक गये···और कोमल रज़िया अचेत होकर गिर पड़ी।

× × ×

नज्मा ने शहरू को तो समझा बुझा कर किसी प्रकार दिल्ली रवाना कर दिया, और खुरशेद साहब पर काफी जोर डालना प्रारम्भ कर दिया कि वे मलिक साहब से एक बार रज़िया और शहरू के सम्बन्ध की बात चीत तो उठायें; किन्तु जैसे उनका स्वाभिमान उन्हें आगे बढ़ने को रोक दिया करता हो। और वे कोई न कोई बहाना बना कर बात टाल दिया करते। और कोई उपाय न देखकर नज्मा ने खुरशेद साहब के रोज़ के मृत्यु शय्या पर कहे गये शब्दों का स्मरण दिलाना शुरू कर दिया, और जब ये कहा कि मृत आत्म की अन्तिम अभिलाषा पूर्ण न हो पाने का सारा पाप उन्हीं पर पड़ेगा, तब अन्त में खुरशेद साहब भी अपनी जिद्द छोड़ बैठे और एक दिन मलिक साहब के पास जाकर इस प्रकार बातें शुरु कीं।

"रज़िया की शादी के बारे में क्या सोचा है जनाब ने?"

"जी हाँ; खूब कहा, बहुत कुछ सोच डाला है। वही अपना मक़बूल, वैसा जवान तो खानदान में क्या, तमाम सुन्नी घरों में नहीं मिलेगा······जी हाँ, चिराग़ लेकर भी ढूढ़ने पर।" मलिक साहब ने हुक्का गुड़गुड़ाते हुए कह डाला। "लेकिन रज़िया की भी सलाह ले ली गई है, इस फ़ैसले पर क़ायम होने के पहिले" डरते-डरते खुरशेद साहब ने कहा।

"भई खूब! जब सारी ज़ायदाद का दस्तावेज़ में लिखूँगा, उसके शौहर के नाम, तो इसमें क्यों किसी की सलाह ली जावे; फिर रज़िया ये सब क्या समझे दुनिया दारी की बातों को। ये छोटा सा कस्बा तक तो देखा

नहीं उसने, भला उसे अच्छे बुरे की क्या तमीज़ ।" मलिक साहब ने वक्षस्थल को फुलाते हुए कह डाला ।

खुरशेद साहब चोट दबाते हुए बोले, "इसके माने यह हुए कि आप उसके लिए शौहर ख़रीद कर लावेंगे ?" मलिक साहब ने तपाक से उत्तर दिया, "तो और नहीं क्या ख़ैरात खाने में पला हुआ शौहर उसे देंगे ।"

घाव पर नमक था यह उत्तर; खुरशेद साहब कुछ गरम होकर बोले, "लेकिन आपको याद है, रज़िया की माँ के मरते वख़्त के क्या अलफाज़ और तमन्ना थी ?"

"वे उसके अलफाज़ नहीं, बल्कि बीमार शख़्श के दिमाग़ में ठूँसे गये ज़हरीले कीड़े !" मलिक साहब ने ये कहते हुए घृणापूर्वक अपना मुँह दूसरी ओर मोड़ लिया ।

ख़रशेद साहब यह अपमान अधिक सहन न कर सके; उन्हें उबाल आ गया, सारी समस्या उसी क्षण सुलझा देने की ठान ली; उन्होंने तुरन्त ही रज़िया को अन्तःपुर से बुला भेजा; और कहा, "बेटी रज़िया ! क्या तू मक़बूल से ब्याह करने को रज़ामन्द है ?" रज़िया के कानों में अब तक की गई बातचीत की भनक कुछ पड़ चुकी थी; और आते ही उसने पिता के चेहरे को ग़ौर से देख लिया था । उसे सब कुछ स्पष्ट हो चुका था । उसने खुरशेद साहब के प्रश्न का उत्तर नहीं दिया । जैसे डर गई हो, वह सिर नीचा किये बैठी रही ।

मलिक साहब ने अपनी पुत्री के अवाक् हो जाने पर हर्षान्वित होते हुए कहा, "जनाब रज़िया ऊँचे ख़ानदान की लड़की है······उसे आख़िर मक़बूल से ब्याह करने में क्या ऐतराज़ हो सकता है······उसके अब्बा की ख़्वाहिश ही उसकी ख़्वाहिश है ।"

खुरशेद साहब जैसे पराजित हो गये हों; उन्होंने एक ज़ोर और लगाया, "बेटी, ऐसे निजी और संगीन मसलों पर ख़ामोशी नुक़सानदेह होती है । जो तेरे दिल में हो, साफ़ साफ़ कह दे बेटी । शरम और हिचक में न पड़ो ।"

लज्जा शीलता के वातावरण में पली हुई रज़िया अपने पिता से स्पष्ट कैसे कहदे कि मक़बूल उसके हृदय-सुधांशु के लिए 'केतु' का काम करेगा । वह अपना विरोध बरसाती नदी की तेज़ी की भाँति निकालना चाहती थी, जो गाँव के गाँव बहा देने के बाद उपजाऊ मिट्टी भी छोड़ जाती है; किन्तु नदी का पाट—उसका हृदय—विशाल इतना था, कि उसमें वैसी तेज़ी आ ही न पाती थी ।

नज्मा भी यह सब बातें छिपे-छिपे सुन रही थी; समस्या सुलझने के

स्थान पर उलझते देखकर वह भी वग़ैर निमन्त्रण के उस स्थल पर आ पहुँची। वह रज़िया के हृदय की बात अच्छी तरह जानती थी, और यह भी जानती थी कि वह शर्म के कारण एक शब्द भी विरोध में न कह सकेगी, चाहे बाद में उसे दुखों के भयंकर ज्वार में ही क्यों न बह जाना पड़े। अतएव उसने साहस बँधाने की चेष्टा की, "बेटी, बोलती क्यों नहीं ? अपने दिल की बात कहदे न।" और रज़िया को सीने से लगा लिया; जैसे बाँध टूट गया हो, रज़िया उफ़न पड़ी; नज़्मा से चिपट गई। नज़्मा बोली, "तो तू, मक़बूल से ब्याह नहीं करना चाहती न ?" रज़िया सिसकियाँ भरने लगी थी; उसने नज़्मा की गोद में अपना सिर डाल दिया।

क्षण भर के लिए पत्थर भी पिघल गया।.......मलिक साहब शब्द-हीन होकर बाहर चले गये।

× × × ×

मानव प्रकृति की रहस्यमयी गुत्थियाँ समाज में आये दिन घटी हुई घटनाओं की पृष्ठभूमि पर दृष्टिगोचर होती हैं। अधूरी और अस्पष्ट पहेलियाँ भी पूर्ण होकर स्पष्ट हो जाती हैं, इन्हीं घटनाओं के सहारे।

रज़िया मलिक साहब की इकलौती बेटी थी सही; किन्तु वह भी उनकी आँखों में खटकने लगी। वह उनके प्रतिद्वन्दी के पुत्र से प्रेम करती थी........ अपनी अथाह सम्पत्ति को मक़बूल से अशिक्षित युवक के हाथों जाते देखना या उसे राख होते देखना वे पसन्द करते थे, किन्तु शहरू सरीखे ग्रेजुएट युवक के हाथों नहीं। उन्होंने रज़िया को रात-दिन समझाना शुरू कर दिया; प्रलोभनों और धमकियों से उसका हृदय मोड़ना चाहा; किन्तु शर्मीली रज़िया केवल यही कह दिया करती थी, "अब्बाजान, इस शादी से तो ख़ुदकशी ही अच्छी है।" मलिक साहब रज़िया के हृदय का भेद जानते थे, अपना अपनी अन्तरात्मा के साथ धोखा भी जानते थे; किन्तु माया और दुरभिमान के परदे में यह सब सत्य धुँधला पड़ गया था।

मलिक साहब के हृदय में एक तूफ़ान उठा था; ऐसा तूफ़ान जो अपनी भयावह झोंके में पेड़-पौधे, बाग़ों के घने कुञ्ज, दीनहीन पक्षियों के निबिड़ों और ग़रीबों की झोंपड़ियों को समेट कर नष्ट कर अपनी प्रचण्ड शक्ति का अनुमान करता है; यह भूल कर कि घने जङ्गलों की अनुपस्थिति में उसका वेग फैल कर धीमा पड़ जावेगा। उनके हृदय में एक ऐसी ज्वाला धधक रही थी जो दावाग्नि की भाँति दो वस्तुओं, यहाँ दो विरोधी विचारों, की रगड़ से उत्पन्न होकर सारे के सारे जंगल को राख कर देती है, और बाद में स्वयं भी राख बन जाती है।

× × × ×

ओह ! उस दिन गुलाब का कच्चा, मस्ती और जवानी की ओर अग्रसर होता हुआ कमसिन पौधा, जो अपने जन्म से ही काँटों के बीच पला था, और वर्षों की तीव्र वायु, घोर वर्षा और क्रूर पशुओं के घातक हमलों से सुरक्षित होकर, अब इतना बड़ा हो सका था, कि बसन्त के स्वागत के लिए अपने हरे-भरे हाथों में गुलाबी रङ्ग के उपहारों को लेकर उसकी बाट जोहता; हाँ वही प्यारा, नन्हा, कमसिन पौधा, उस भयावह सन्ध्या में, निष्ठूर लपट की एक ही झपेट में, नीचे आगया; उसकी नसों ने रक्त बहना बन्द कर दिया, उसकी हरियाली उड़ गई। पीलापन—नीलापन आगया उसमें।······और उसकी मृत्यु के साथ-साथ उसके प्रियतम की आशाओं का उपवन उजड़ गया, भौरे लौट गये, तितलियाँ उड़ कर चली गईं······और रह गया अवशेष केवल एक झुलसा हुआ ठूँठ, बुझे हुए दीपक सा जो धुआँ उड़ाकर भयंकर अट्टहास करता है संसार की असारता पर।······उसके साथियों ने उसका 'ज़नाजा' निकाला और ले चले उसे उस श्मशान भूमि पर, जहाँ का वातावरण तक शून्य हो।

उधर उषा कालीन सूर्य नवीन किरणों को जन्म दे रहा था। इधर शून्य पद-ध्वनियों के बीच वह 'शव'····चला जा रहा था। पीछे पीछे मलिक साहब सिर झुकाये चले जा रहे थे। गहरे रहस्य का बादल लादे हुए, जिसमें सत्य का चन्द्रमा छिपाया जा रहा हो। ······उस नीरवता में कभी कभी एकाध शब्द काना-फूसी की सीमा पार कर जाता था। कोई कहता था कि मलिक साहब ने रजिया के शाम के नाश्ते में विष मिला दिया था; कोई सोते समय दूध में जहर की पुड़िया मिला देने की बात कह रहा था; डाक्टर के भी शब्द दुहराये जा रहे थे, "उसे हैज़ा तो था नहीं, चेहरे पर खुमारी के आसार ज़रूर थे।" एक चौथा स्वर इसके आगे जोड़ता था, "लाश उठने के पहिले नज्मा को उसका चेहरा क्यों नहीं देखने दिया गया, क्या इसीलिए कि तमाम लोग उसके गुलाबी चेहरे पर नीलापन देख लेते ?" रज़िया की दिवंगत-आत्मा धुँधले प्रकाश में जैसे कह रही थी, "दौलत के लिए या····दो मुहब्बत करने वालों को जुदा करना दुनिया का सबसे बड़ा पाप है।"

सात मास के पश्चात्—

खुरशेद साहब पर गाज गिर पड़ी। उनका इकलौता बेटा शहरू, शायद रज़िया के वियोग को सहन न कर सकने के कारण, चल दिया उसी लोक को, जहाँ उसकी रज़िया बहुत पहिले ही पहुँच चुकी थी।

उधर शहरू के शव के उठाये जाने की तय्यारी हो रही थी, इधर

खुरशेद साहब हृदय पर पत्थर रखकर एक बार फिर मलिक साहब के दरवाजे पर पहुँचे। मलिक साहब अपने हृदय की प्रसन्नता को छिपाने का असफल प्रयत्न करते हुए बोले, "कहिये खुरशेद साहब ! अब मैं आपकी क्या खिदमत कर सकता हूँ ?"

खुरशेद साहब, आँखों में आँसू भर कर बोले, 'शहरू ये वसीयत लिख गया है, क्या मैं उम्मीद करू, आप उसके मरने के बाद तो उसकी रूह को तकलीफ न होंने देंगे ?"

मलिक साहब वसीयत पढ़ने लगे, "मेरी रूह को चैन और अमन तभी मिलेगा जबकि मेरी कब्र रजिया की कब्र के पास बनाई जावे। जिन्दगी में हम एक दूसरे से न मिल सकें, तो मरने के बाद तो एक दूसरे के नज़दीक हमेशा के लिए सोते रहें।"

जैसे मलिक साहब बौखला गये, वसीयत फेंक कर कड़क उठे, "जैसे रजिया शहरू की बीबी रही हो···मैं कभी भी ऐसा न होने दूँगा···शहरू की इतनी जुर्रत।"

खुरशेद साहब के आँसू इस कठोर आघात को पाकर थम गये, उनका भर्राया हुआ गला दर्द भरे स्वर में चीख उठा, "मलिक साहब, जरा इन्सान बन कर सोचिये···आपको भी खुदा के यहाँ जबाब देही करनी पड़ेगी···जीते जी तो आपने उन दोनों के अरमान जला दिये, अब मरने के बाद तो उनकी रूहों को शान्ति लेने दो।"

ये शब्द मलिक साहब के चट्टान से कठोर कानों से टकरा कर स्वयं खुरशेद साहब के कानों में प्रतिध्वनि करने लगे। मलिक साहब ने जोर के साथ जबाव दिया. "ये सब नामुमकिन है। ये मेरी इज्जत पर सीधा हमला है।···मैं ऐसा अन्धेर कभी न होने दूँगा, चाहे खुद पैग़म्बर मुहम्मद साहब ही क्यों न आकर सिफारिश करें।" मलिक साहब के घर पर जैसे अब साँस लेना भी अधर्म समझ कर खुरशेद साहब चुपचाप वापस लौट गये।

× × × ×

खुरशेद और नज़मा ने अपनी सारी सम्पत्ति बेचकर शहरू की कब्र पर एक सुन्दरसा मज़ार—रज़िया की कब्र से दूर—बनवाकर खड़ा किया; शहरू की कब्र के पास ही एक सपाट कब्र का चिह्न बनवा दिया और उस पर अंकित करा दिया, 'बेगम रज़िया बानू"। इतना कर चुकने के बाद खुरशेद और नज़मा दोनों 'अल्लाह' का नाम लेते हुए हज-यात्रा को चले-गये।

× × × ×

सन् १९३४ का भयङ्कर भूकम्प आया। हजारों मकान गिर गये, सैकड़ों स्थानों पर धरती फट गई, लाखों पेड़ पौधे जड़ मूल से उखड़ गये— लोगों ने देखा, ' रज़िया के मज़ार से रज़िया की कब्र गायब थी।''

लोगों ने दूसरी ओर देखा, ''शहरू के मज़ार में, उसकी कब्र के पास के रिक्त स्थान पर एक कब्र कहीं से लुढ़क कर आ पड़ी थी।

लोगों ने पहिचान लिया। ये लुढ़की हुई कब्र रजिया की ही कब्र थी। प्रकृति ने अपने पात्रों द्वारा रज़िया और शहरू की कब्रें पास पास कर ली थीं; मुहम्मद पैगम्बर की सिफारिश अन्त में फलीभूत थी।

यह सब देखकर मलिक साहब का हिमालय से भी कठोर हृदय मोम हो गया। उनकी आँखों से आँसू निकल पड़े; वे बिलख उठे, ''रजिया और शहरू मुझे माफ कर दो; अल्लाह-ताला मेरी गुस्ताख़ी माफ़ कर दो।''

अबकी बार मलिक साहब ने अपनी सारी सम्पत्ति बेच कर शहरू के मज़ार के ऊपर शहरू और रज़िया की कब्रों पर एक बहुत बड़ा आलीशान मज़ार बनवाकर खड़ा किया; और स्वयं ही उसका नाम रक्खा— ''रज़िया-महल''।

रज़िया महल के कण कण से रज़िया और शहरू के पुनीत-प्रणय की ध्वनियाँ गूँजती हैं।

———

परंपरा

— रावी

रावी

जन्म—१६ दिसम्बर १६११, कुल पहाड़ (बुन्देलखण्डी उत्तर प्रदेश) ।

शिक्षा—हिन्दी, अँग्रेजी, हाई स्कूल ।

रावीजी का विशेष कार्य और जीविका का साधन स्वतन्त्र लेखन हैं । उनकी साहित्यिक प्रेरणा के मूल में वैयक्तिक एवं सामाजिक मनोविज्ञान, जन- सम्पर्क और नव-निर्माण की भावना है जिनकी अभिव्यक्ति के माध्यम हैं, कहानी, नाट्य कहानी, वार्त्ता-निबन्ध, और विशेषकर लघु-कथाएँ ।

रावीजी हिन्दी में अपनी लघु प्रतीकात्मक कथाओं के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं जिनमें गद्य-गीत-का सा प्रवाह तथा माधुर्य, एवं पौराणिक कथाओं का सा वातावरण प्रधान रहता है । उनकी लघु-कथाओं का अँग्रेजी भाषा में अनुवाद भी हो चुका है और इनमें से कुछ हिन्दी-इतर पाठक समुदाय में बड़ी सम्मानित हुई हैं ।

रावीजी एक ऐसे कल्पना प्रधान स्वप्नदृष्टा हैं जो कि 'नैतिक क्रान्ति' के आयोजन में निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं और आगरे से बाहर कलाश आश्रम में यमुना के किनारे एकान्तवास करते हैं । आपका पूरा नाम है—रामप्रसाद विद्यार्थी ।

कुल मिलाकर १६ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें से प्रमुख हैं—उपजाऊ पत्थर, नए नगर की कहानी, वीरभद्र की गोष्ठी ।

१६३५ से रावीजी स्थायी रूप से आगरे में ही रहते हैं ।

———

परम्परा

[श्री रावी]

ईसा की नवीं शताब्दी में प्रारम्भ होकर बीसवीं में समाप्त होने वाली इस रहस्य कथा के लिए मैं सुनहरे पंखवाले उन सुकुमार देवदूतों का बहुत कृतज्ञ हूँ जो इतिहास की रोचक कथाओं को कथाकारों के कल्पना जगत में उतारने का काम करते रहते हैं।

योरुप के अन्धकार युगीन मध्यकाल में सन् ८४२ की २८ सितम्बर की रात स्पेन देश के जिब्रास नामक कस्बे की एक विशेष आतंक पूर्ण रात्रि थी। पेडिनस इस नगर का सबसे बड़ा धनिक था। उसका मोतियों और रत्नों का व्यवसाय मुख्यतया दूसरे देशों से चलता था। पेडिनस की सम्पत्ति देश की प्रचलित मुद्राओं के अनुसार अस्सी लाख की आँकी जाती थी। २१ सितम्बर सन् ८४२ को एक अश्वारोही पत्रवाहक पेडिनस के हाथ में एक सीलबन्द लिफ़ाफ़ा दे गया था। इस लिफ़ाफ़े में निम्नलिखित आशयका पत्र निकला था :

मेरे प्यारे शत्रु पेडिनस,

२८ सितम्बर की रात को मैं अपने हथियार बन्द दल के साथ तुम्हारी हवेली पर आक्रमण करूँगा। यदि तुम अपने रत्नों और मोतियों की तिजोरी मुझे निर्विघ्न ले जाने दोगे और अपनी सुन्दरी पुत्री नीसा की हत्या कर लेने दोगे तो मैं उसके आगे तुम्हारा कोई अनिष्ट नहीं करूँगा। सम्भव है, तुम्हारे लिए मेरा नाम सर्वथा अपरिचित हो; क्योंकि मेरे और तुम्हारे पूर्वजों की शत्रुता आठ पीढ़ी पुरानी है और पिछली चार पीढ़ियों से हम लोग उस शत्रुता को लगभग भूल से गये हैं। फिर भी आवश्यक प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर मैं उस पुराने लेखे को समाप्त करने के लिए यह पग उठा रहा हूँ।

साभिवादन तुम्हारा

निकोटाई

पेडिनस ही कहीं, जिब्रास के बूढ़े इतिहास से भी अनुमान नहीं कर सके कि यह निकोटाई किस ग्राम का निवासी कौन सा व्यक्ति हो सकता है। पेडीनस जिब्रास का एक लोकप्रिय दानी और तत्त्ववेत्ता दार्शनिक भी था और सारा नगर उसके पसीने की जगह रक्त बहाने को तैयार था। नगर वासियों ने

रावी

जन्म—१६ दिसम्बर १६११, कुल पहाड़ (बुन्देलखण्डी उत्तर प्रदेश)।

शिक्षा—हिन्दी, अँग्रेजी, हाई स्कूल।

रावीजी का विशेष कार्य और जीविका का साधन स्वतन्त्र लेखन हैं। उनकी साहित्यिक प्रेरणा के मूल में वैयक्तिक एवं सामाजिक मनोविज्ञान, जन- सम्पर्क और नव-निर्माण की भावना है जिनकी अभिव्यक्ति के माध्यम हैं, कहानी, नाट्य कहानी, वार्त्ता-निबन्ध, और विशेषकर लघु-कथाएँ।

रावीजी हिन्दी में अपनी लघु प्रतीकात्मक कथाओं के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं जिनमें गद्य-गीत-का सा प्रवाह तथा माधुर्य, एवं पौराणिक कथाओं का सा वातावरण प्रधान रहता है। उनकी लघु-कथाओं का अँग्रेजी भाषा में अनुवाद भी हो चुका है और इनमें से कुछ हिन्दी-इतर पाठक समुदाय में बड़ी सम्मानित हुई हैं।

रावीजी एक ऐसे कल्पना प्रधान स्वप्नदृष्टा हैं जो कि 'नैतिक क्रान्ति' के आयोजन में निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं और आगरे से बाहर कलाश आश्रम में यमुना के किनारे एकान्तवास करते हैं। आपका पूरा नाम है—रामप्रसाद विद्यार्थी।

कुल मिलाकर १६ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें से प्रमुख हैं—उपजाऊ पत्थर, नए नगर की कहानी, वीरभद्र की गोष्ठी।

१६३५ से रावीजी स्थायी रूप से आगरे में ही रहते हैं।

परम्परा

[श्री रावी]

ईसा की नवीं शताब्दी में प्रारम्भ होकर बीसवीं में समाप्त होने वाली इस रहस्य कथा के लिए मैं सुनहरे पंखवाले उन सुकुमार देवदूतों का बहुत कृतज्ञ हूँ जो इतिहास की रोचक कथाओं को कथाकारों के कल्पना जगत में उतारने का काम करते रहते हैं।

योरुप के अन्धकार युगीन मध्यकाल में सन् ८४२ की २८ सितम्बर की रात स्पेन देश के जिब्रास नामक कस्बे की एक विशेष आतंक पूर्ण रात्रि थी। पेडिनस इस नगर का सबसे बड़ा धनिक था। उसका मोतियों और रत्नों का व्यवसाय मुख्यतया दूसरे देशों से चलता था। पेडिनस की सम्पत्ति देश की प्रचलित मुद्राओं के अनुसार अस्सी लाख की आँकी जाती थी। २१ सितम्बर सन् ८४२ को एक अश्वारोही पत्रवाहक पेडिनस के हाथ में एक सीलबन्द लिफ़ाफ़ा दे गया था। इस लिफ़ाफ़े में निम्नलिखित आशयका पत्र निकला था :

मेरे प्यारे शत्रु पेडिनस,

२८ सितम्बर की रात को मैं अपने हथियार बन्द दल के साथ तुम्हारी हवेली पर आक्रमण करूँगा। यदि तुम अपने रत्नों और मोतियों की तिजोरी मुझे निर्विघ्न ले जाने दोगे और अपनी सुन्दरी पुत्री नीसा की हत्या कर लेने दोगे तो मैं उसके आगे तुम्हारा कोई अनिष्ट नहीं करूँगा। सम्भव है, तुम्हारे लिए मेरा नाम सर्वथा अपरिचित हो; क्योंकि मेरे और तुम्हारे पूर्वजों की शत्रुता आठ पीढ़ी पुरानी है और पिछली चार पीढ़ियों से हम लोग उस शत्रुता को लगभग भूल से गये हैं। फिर भी आवश्यक प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर मैं उस पुराने लेखे को समाप्त करने के लिए यह पग उठा रहा हूँ।

साभिवादन तुम्हारा

निकोटाई

पेडिनस ही कहीं, जिब्रास के बूढ़े इतिहास से भी अनुमान नहीं कर सके कि यह निकोटाई किस ग्राम का निवासी कौन सा व्यक्ति हो सकता है। पेडीनस जिब्रास का एक लोकप्रिय दानी और तत्त्ववेत्ता दार्शनिक भी था और सारा नगर उसके पसीने की जगह रक्त बहाने को तैयार था। नगर वासियों ने

निश्चित किया कि वे अपने प्राण रहते पेडीनस की प्रिय पुत्री का वध और उसकी एक भी मुद्रा का अपहरण न होने देंगे।

२८ सितम्बर की रात जिब्रास के निवासी कृपाणों, भालों और पत्थर गोलों की वर्षा करने वाली गुलेलों से सुसज्जित अनेक टोलियों में बँटे कस्बे के चारों ओर गस्त लगा रहे थे। वह अमावस्या की सम्पूर्ण अँधेरी रात थी। जलती मशालें टोलियों के आगे-आगे चलती थीं।

अर्द्ध रात्रि के समय उत्तर दिशा के क्षितिज पर प्रकाश की लालिमा दिखाई दी। वह प्रकाश आक्रान्तादल की मशालों का ही था। कुछ देर पीछे युद्ध के ढोलों की दूरवर्ती आवाज़ भी आती सुनाई दी। रक्षक टोलियाँ सावधान हो गईं। ढोलों का स्वर समीप आता प्रतीत हुआ। किन्तु वह वाद्य स्वर एक सीमा से आगे न बढ़ा और अनायास ही विलीन भी हो गया। उत्तर दिशा का प्रकाश भी लुप्त हो गया और पूर्वी क्षितिज पर सूर्योदय का पूर्व प्रकाश लक्षित होने लगा। जिब्रास निवासियों ने निश्चय किया कि वह संकट निर्विघ्न टल गया है। सूर्योदय होते-होते वे नगर के मध्यवर्ती मैदान में एक हो गये।

किन्तु उनके क्षोभ का कोई ठिकाना न रहा जब एक व्यक्ति ने उस भरी सभा में आकर सूचना दी कि पेडीनस की हवेली में उसकी पुत्री की हत्या हो गई है और उसकी रत्नों मोतियों की तिजोरी को भी डाकू लोग उठा ले गये हैं।

पेडीनस की लगभग एक करोड़ मुद्राओं के मूल्य की सम्पत्ति का अपहरण हुआ था। खातों के अनुसार उसे उस समय अपने ग्राहकों से बीस लाख मुद्राएं पानी थीं और चालीस लाख अपने व्यापारियों को देनी थीं। इस प्रकार इस अपहरण से वह बीस लाख मुद्राओं का ऋणी हो गया था। उसकी यह ऋण-ग्रस्तता और उससे मुक्त होने की असमर्थता पुत्री निधन से भी बड़ी और चिन्ता जनक क्षति थी।

पेडीनस का ज्येष्ठ पुत्र उरेनस ही अब उसकी एक मात्र संतान बच रहा था। उरेनस जिब्रास का सबसे अधिक सुन्दर और आकर्षक युवक था। विगत दुर्घटना के एक महीने के भीतर ही एक रात उरेनस भी अपनी हवेली में सोया हुआ अदृश्य हो गया। पेडीनस और उसके नगर वासियों पर यह दूसरा वज्राघात हुआ. किन्तु इससे पेडीनस तनिक भी विचलित नहीं दिखाई दिया। समय के साथ साथ लोगों का अनुमान पक्का होता गया कि पेडीनस के पूर्व शत्रु ने ही उसके पुत्र का भी अपहरण कर उसका वध कर दिया है।

किन्तु इस दूसरी दुर्घटना के छठे महीने की एक सुहावनी दुपहरी को

जिब्रास निवासियों ने देखा कि उरेनस एक उच्च कुलीन अश्व पर सवार नगर में प्रवेश कर रहा है। इसके आगे उसी अश्व पर एक अत्यन्त रूपवती तरुणी आसीन है। उरेनस के पीछे सशस्त्र अश्वारोहियों द्वारा रक्षित एक रथ है। पेडीनस और नगर वासियों ने उनका असामान्य-दृष्टि-समारोह के साथ स्वागत किया और उसी रात उस कन्या के साथ उरेनस का विवाह सम्पन्न हो गया। इस स्वेच्छा पूर्वक अपहृता तरुणी के साथ उसके पितृ-गृह से आये हुए रथ में इतनी सम्पति थी कि पेडीनस अपने ऋणों से मुक्त होकर पुनः पूर्ववत् समृद्ध होगया।

पेडीनस और उरेनस ने अपने नगर वासियों के सम्मुख इस कर्ण-प्रिय रहस्य का उद्‌घाटन किया कि उरेनस अपने शत्रु निकोटाई की इकलौती पुत्री शम्बा को अपने प्रणय-पाश में बाँधकर उसका अपहरण कर लाया है और उस कन्या की इच्छा और सहयोग-पूर्ण प्रपंच से ही वह अपने पिता की सम्पूर्ण अपहृत सम्पत्ति को पुनः हस्तगत कर सका है।

निकोटाई स्पेन देश के एक मध्यवर्ती ग्राम के निर्धन एवं अल्प-संख्यक कबीले का सरदार था। यह कबीला आसपास के क्षेत्र में लूट-पाट करके अपना गुजारा करता था। उक्त घटना के पश्चात् देश के राजा की सहायता से पैडीनस ने निकोटाई के हाथ-पैर बहुत कुछ बांध दिये और उसकी लूटमार की शक्ति को बहुत क्षीण कर दिया।

तीन वर्ष बाद पेडीनस मृत्यु-शैया पर जा पड़ा। देश के राजपुरुषों की साक्षी में उसने अपनी जो वसीयत लिखाई उसका एक अंश इस प्रकार था—

"जब तक इस देश का राजवंश और मेरे वंशज मुझ पर श्रद्धा रख सकें तब तक निकोटाई के पुत्र तथा उसके पश्चात् पौत्रों-प्रपौत्रों को प्रति वर्ष एक सहस्र मुद्राएँ मेरे कोष में से दी जायँ; और उनका कोई भी प्रिय या अप्रिय व्यवहार इसमें बाधक न माना जाय। मेरे पुत्र ने मेरी इच्छा और आदेश पर निकोटाई के घर से एक करोड़ की सम्पत्ति का अपहरण किया है और इस प्रकार में निकोटाई का करोड़ मुद्राओं का ऋणी हूँ और चाहता हूँ कि मेरा वंश उस ऋण से मुक्त हो सके।"

कुछ समय बाद पेडीनस की मृत्यु हो गई। उरेनस ने निकोटाई के प्रति अपने पिता की वसीयत का प्रसन्नतापूर्वक पालन किया और यह पालन उसके वंशजों द्वारा भी अनेक पीढ़ियों तक चलता रहा।

अब इस कथा का उत्तरार्द्ध सुनिये। भारत की सन् १९४७ की राज-नीतिक स्वतन्त्रता के बाद का ही यह कोई वर्ष और दिन है। इलाहाबाद के

एक न्यायालय में आज एक अन्यन्त रहस्यपूर्ण मामले के फैसले का दिन है। राधेलाल एन्ड सन्स इलाहाबाद की एक बड़ी व्यावसायिक फर्म है। फर्म के मालिक श्री उमाचरण एक सहृदय एवं सुशिक्षित युवक हैं। कई नगरों में उनकी व्यावसायिक शाखाएँ हैं। उमाचरण के पिता श्री राधेलाल ने बहुत छोटी हैसियत से बढ़कर यह करोड़ों की सम्पत्ति का व्यवसाय खड़ा कर लिया था। उमाचरण ने पिता की मृत्यु के बाद अपने बचपन के पड़ौसी और साथी दौलतराम को अपने व्यवसाय में एक आने की पट्टी देकर साझीदार बना लिया था।

दौलतराम की साझेदारी में राधेलाल एण्डसन्स का व्यापार छः वर्ष तक ठीक चला किन्तु सातवें साल से उसमें घाटे आने प्रारम्भ हो गये। अन्त में उमाचरण के व्यवसाय और जीवन पर सबसे बड़ा आघात आया। उनके अवशिष्ट सबसे बड़े कानपुर में लकड़ी का फ़र्नीचर बनाने वाले कारख़ाने में तथा इलाहाबाद स्थित निवास-सदन में एक रात एक साथ आग लगी और अग्निकांड से कुछ मिनट पूर्व निवास-सदन में दो प्रहरियों की हत्या हुई। इससे भी ऊपर उमाचरण की जो सबसे बड़ी हृदयबेधक क्षति हुई वह थी उनकी एकमात्र शोडषवर्षीया पुत्री सुनीता का अपहरण।

रिपोर्ट हुई, छानबीन हुई, मुकदमा चला। उमाचरण के सभी अहितों में नीचे से लेकर ऊपर तक दौलतराम का ही हाथ पाया गया। छानबीन के बीच उस पर जालसाज़ी और चोरी के नये-नये अभियोग लगे। कारख़ाने में आग लगवाने तथा इलाहाबाद के निवास सदन में स्वयं दो प्रहरियों की हत्या कर सुनीता का अपहरण करने और फिर आग लगवाने के आरोप उस पर सत्य सिद्ध हो गये। पलायनकारी दौलतराम को एक दूर नगर में सुनीता के साथ खोजकर बन्दी कर लिया गया और सुनीता का सकुशल उद्धार हो गया।

"आज न्यायाधीश कमलसेतु का न्यायालय दर्शकों से खचाखच भरा है। दौलतराम बन्दी वेश में उपस्थित है। उमाचरण अपनी पत्नी, पुत्री तथा कुछ अन्य जनों के साथ प्रवेश करते हैं। सब की आँखें उमाचरण की ओर विशेष आकृष्ट होती हैं क्योंकि पिछले सप्ताह तक एक धनिक नागरिक की वेश-भूषा सज्जित वह आज एक नव-दीक्षित बौद्ध साधु के परिधान में है।

न्यायाधीश की आँखें भी उमाचरण के इस नये वेश का मानों अभिवादन करती हैं। फैसला सुनाया जाता है। दौलतराम की सारी सम्पत्ति जब्त करके उसे आजीवन काले पानी की सजा मिलती है। उस सम्पत्ति में से पचास लाख रुपया उमाचरण को उनकी आंशिक क्षति-पूर्ति के रूप में दिया जाता है।

न्यायाधीश के विस्तृत, विद्वत्तापूर्ण उस न्याय-पत्र को सम्पूर्ण भवन ने एकाग्र-चित्त से सुना। ईर्ष्या की साधारण-सी प्रवृत्ति मनुष्य को कितना भयङ्कर अपराधी बना सकती है, इस ओर मनोविद् न्यायाधीश ने विशेष चेतावनीपूर्ण संकेत न्याय-पत्र में किया था।

घोषणा के बाद साधुवेशी उमाचरण के शब्दों ने ही भवन की निस्तब्धता का भङ्ग किया—

"न्यायमूर्ति! आपका निर्णय न्यायपूर्ण एवं शिरोधार्य है। किन्तु राजाज्ञा के समकक्ष प्रजाजन की कुछ व्यक्तिगत स्वतन्त्रताएँ भी हैं। आज्ञा हो तो अपनी स्थिति के सम्बन्ध में इस अवसर पर कुछ वक्तव्य देना चाहता हूँ।"

"सहर्ष! आप पाँच मिनट ले सकते हैं।" न्यायाधीश ने उमाचरण की प्रार्थना स्वीकार की।

उपस्थित जनों की ओर मुख फेर कर उमाचरण ने कहा—

"न्यायमूर्ति और बन्धुओ,

विगत छह महीने से मेरी आन्तरिक चेतना में कुछ ऐसे परिवर्तन हो रहे थे जिनके फल स्वरुप ही आप मुझे आज एक साधु के वेश में देख रहे हैं। पिछले सप्ताह आज के ही दिन इस मामले की अन्तिम पेशी थी और उसका दूसरा ही दिन मेरे जीवन का वह महत्वपूर्ण पर्व था जब मुझे अपने गुह्य जीवन में प्रविष्ट होने को दीक्षा मिलनी थी। मेरे दीक्षित साधु जीवन का आज सातवां दिन है और इन सात दिनों में पूर्व साधनाओं के फल स्वरुप मेरी अनेक पूर्व जन्मों की स्मृतियां जाग उठी हैं।

"अपने अपराधी दौलतराम का और मेरा सम्पर्क पिछले कई जन्मों का है। पिछले जन्म में मैं स्पेन देश का एक व्यवसायी था और आध्यत्मिक साधनाओं का एक साधक थ। परोक्ष और पर जन्म दर्शन की अर्न्तदृष्टि मुझे प्राप्त थी। मेरा यह साथी भी मेरा समकालीन मेरे पड़ोस के एक पिछड़े हुए कबीले का सरदार था। पूर्व जन्म के सम्बन्धों से प्रेरित होकर उसने मेरी सम्पत्ति का अपहरण करने और मेरी पुत्री का वध करने की चुनौती दी। मैंने उसकी चुनौती को स्वीकार किया और अपने नगरवासियों की दृष्टि बचा कर उसको पूरा करने में सहायता भी दी। मैंने उसे अपने भवन में एक गुप्त भू गर्भ मार्ग से प्रविष्ट होने का निमंत्रण दिया और अनुमति दे दी कि यदि वह द्वन्द्व युद्ध में मेरी पुत्री को पराजित कर सके तो उसका वध करके मेरे कोष को अपने साथ ले जा सकता है। मेरी पुत्री युद्ध विद्या में पूर्ण पारंगता थी फिर भी उसे पराजित कर मेरे इस साथी ने

उसका वध कर दिया और मेरी सम्पत्ति को ले गया। यह सब मैंने इसलिए होने दिया कि उस व्यक्ति के साथ उससे पहले के जन्म में अपने अन्याय एवं अपहरण पूर्ण व्यवहार से मैंने उसे पीड़ित किया था और अब उसका पूर्वोक्त मुंहमाँगा प्रतिशोध दे कर ही अपने कर्म ऋण से उऋण हो सकता था। इस-लिए मैं अपने इस व्यक्तिगत ऋण शोध में अपने और उसके साथियों को भी सम्मिलित करके अपना और उनका कर्म-भार बढ़ाना नहीं चाहता था। बहुत कुछ इस ऋण-शोध के लिए ही कर्म के देवताओं ने मुझे और उसे दो ऐसे परिवारों में जन्म दिया था जिनकी शत्रुता कई पीढ़ियाँ पहले की पुरानी थी।

"किन्तु उस सीमा तक कर्म-ऋण चुकाने के पश्चात् मैं उसके आघात को सहन नहीं कर सका। मैंने अपने बुद्धि कौशल द्वारा उस अपहृता सम्पत्ति को पुनः प्राप्त कर लिया और निश्चय किया कि सुविधाजनक धनराशियों में धीरे-धीरे चुकाकर उस ऋण से मुक्त हो लूंगा। किन्तु मेरी यह व्यवस्था अधिक समय तक न चली और मेरे वंशज मेरे ऋण के चतुर्थांश से भी मुझे मुक्त न कर पाये।"

"अब इस जन्म में मेरे जन्मान्तर के साथी ने पुनः मेरे साथ शरीर धारण कर आवश्यक व्याज के साथ अपना पावना उगाहने का प्रयत्न किया है, पिछले जन्मों से भिन्न इस जन्म में उसकी कठोर चेतना में एक कोमल स्फुटराग का भी आविर्भाव हुआ है। वह है मेरी पुत्री सुनीता के प्रति उसका गहरा समर्पणशील अनुराग। न्यायालय ने अपनी खोज में पाया है कि दौलत-राम ने पहले सुनीता का अपहरण किया और फिर भवन में आग लगी। किन्तु मैं अब अपनी नव-जाग्रत अन्तर्दृष्टि से देख रहा हूँ कि आग पहले लगी और दौलतराम ने आग की लपटों में घुसकर सुनीता का उद्धार और तत्पश्चात् अप-हरण किया। मेरी पुत्री सुनीता पूर्व जन्म में दौलतराम की पुत्री थी और मैंने उसका अपहरण कराकर उसे अपनी पुत्रवधू बनाया था।

"बन्धुओ, इस न्यायालय से मुझे जो न्याय प्राप्त हुआ है उससे लाभ उठाकर मैं दौलतराम के प्रति अपने ऋण को अधिक दूर तक चलाने के लिए प्रस्तुत नहीं हूँ। मैं अब भारमुक्त होकर जीवन के अधिक व्यापक कार्य के लिए स्वतन्त्र होना चाहता हूँ। जन्म-जन्मान्तर-व्यापी कार्मिक आदान-प्रदान की, और उसे देख सकने वालों की ऐसी ही परम्परा चली आई है। दौलतराम से प्राप्त होने वाली रकम लौटाकर अपनी शेष सम्पत्ति के साथ मैं अपनी पुत्री सुनीता को भी उसकी भेंट करूँगा। अपने प्रवासी जीवन में वह इस सम्पत्ति से वहाँ का एक सम्भ्रान्त नागरिक बन सकेगा और सुनीता उसकी पत्नी और

गुरु बनकर उसके जीवन को एक नया मोड़ दे सकेगी—यह मैं अपनी अन्तर्दृष्टि से देख रहा हूँ। दौलतराम के तथा उस जैसे अनेक सम्बन्धित जनों के ऋणों से मुक्त होकर मैं अपने जीवन के आये हुए आह्वान को ही स्वीकार कर रहा हूँ।"

× × ×

ग्यारह सौ वर्ष पूर्व प्रारम्भ होकर पिछले दशक में समाप्त होने वाली यह कहानी सम्पूर्ण हुई। किन्तु कर्म और पुनर्जन्म से सम्बन्ध रखने वाली इस कथा में अनेक धार्मिक-दार्शनिक मान्यताओं के अनुसार शंका और विरोध के बहुत से स्थल हैं। कथा के पात्रों का ग्यारह सौ वर्ष बाद पुनर्जन्म तथा निकोटाई जैसे क्रूर और बर्बर व्यक्ति को भी पुनः मानव-शरीर की प्राप्ति ऐसी ही कुछ शंकायें हैं। किन्तु इतिहास की रोचक कथाओं को कथाकारों की कल्पना में उतारने का काम करने वाले सुनहरे पंख वाले सुकुमार देवदूतों का मैं एक बार और कृतज्ञ हूँ, क्योंकि उन्होंने मेरी उन शंकाओं का समाधान करके ऐसे घटना-क्रम की सार्थकता का मुझे आश्वासन दिया है और कर्म तथा पुनर्जन्म के तथ्यों का अनुसन्धान करने वाली कुछ सार्वभौम संस्थाओं के मन्तव्य भी इस कथा के अनुकूल हैं।

घुंघरू के बोल

विजय कुलश्रेष्ठ

विजय कुलश्रेष्ठ

जन्म—७ जुलाई १९३८ आगरा।

"स्वर्गीय बहिन कुसुम की मृदु थपकियों में जो कहानियाँ मुझे सुनने को मिलीं वही मेरी प्रेरक हैं।"

"आदरणीय ताऊजी डा० सत्येन्द्र (हिन्दी के प्रख्यात आलोचक) से मेरी लेखनी को मौन प्रोत्साहन मिला।"

कहानी एवं एकांकी दोनों ही लिखते हैं। रचनाओं में विकास के अंकुर हैं इसमें सन्देह नहीं।

लिखने के अतिरिक्त भ्रमण और अभिनय के प्रति भी रुचि है।

———

घुंघुंरू के बोल

[श्री विजय कुलश्रेष्ठ]

ता ता ता थेई···ता ता ता थेई द्रुतलय के साथ उसके पैर घूमते चले जा रहे थे। वह स्वयं ही सुन्दर थी, उसके एक उपअङ्ग ने उसमें चार चाँद लगा दिये। वह गा रही थी—"पद घुंघुंरू पहन मीरा नाची रे···" सारा जन-समुदाय आत्म-विभोर हो उठा।

जन-समुदाय के मध्य एक कौने में श्रीकान्त बैठे हुये अपनी पुत्री की कला के निखार को परख रहे थे। 'वाह वाह' की आवाज पर जब किञ्चित मुस्कान उसके अधरों पर खेल उठती तो श्रीकान्त की आकृति कुटिल हो उठती। पर करते क्या? कार्यक्रम के अन्त तक बैठे रहे क्योंकि उन्हें अपनी पुत्री को भी साथ लेकर जाना था।

कार्यक्रम के उपरान्त पुरस्कार वितरण हुआ। पुरस्कार घोषित होते रहे—'कुमारी पंकजा को नृत्य में स्वर्ण-पदक'। श्रीकान्त की आँखें प्रसन्नता से ज्योतित हो उठी। तालियों की गड़गड़ाहट में उसकी तालियों के रव देर तक गूंजते रहे।

× × ×

"बाबूजी आज नगर के कलाकारों की ओर से कालेज में कला-प्रदर्शन है। मैं जाऊँगी।"

'हूँ'—श्रीकान्त ने कार्य करते हुए कहा—

"मुझे भी निमन्त्रण दिया गया है, बाबूजी!"

"क्या हुआ, मेरे लिये भी तो आया है न।"

"नृत्य के प्रोग्राम के लिये मुझे जाना होगा?"

"नहीं, तुम बाहर समाज के आगे नाचती फिरोगी, क्या इसीलिये सीखा है?"—कलम मेज पर पटकते हुये श्रीकान्त बोले। पंकजा एकदम सहम गई। ऐसा कुटिल रूप उसने कभी नहीं देखा था।

"कला का प्रदर्शन न होगा तो वह पनपेगी कैसे बाबूजी?"—सारा साहस बटोर कर पंकजा ने बाबूजी से प्रश्न किया।

"कला, कला, पत्थर की कला···मैंने कह दिया कि तुम डाँस' के लिये नहीं जाओगी।"

"तो···"

"मैंने तुम्हारे एकाकी मन को बहलाने के लिये ही नृत्य-शिक्षण आवश्यक समझा था।"

"पर बाबूजी, शहर के बाहर के अनेक कलाकार भी तो भाग ले रहे हैं।"

"कला, कला के लिये ? कला अब पेट के लिये होगई है पंकजा। पैसे के लालच सब यहाँ आये हैं।"

"मैंने तो एक पैसा तक नहीं छुआ बाबूजी।"

"तो क्या चाहती हो कि रङ्गमञ्च पर नाच-नाचकर पैसे कमाओ। यह कभी नहीं हो सकता।"

पंकजा उनके कमरे से निकलते हुये कहती गई—"मैंने कभी नहीं चाहा था बाबूजी।"

× × ×

पंकजा की साथिन आयी। कालेज की सेक्रेटरी थी। पंकजा ने साफ इनकार कर दिया कि बाबूजी मेरी कला का प्रदर्शन नहीं कराना चाहते।

विकट परिस्थिति थी। सेक्रेटरी ने सुझाया 'मेकअप हमारे हाथ की बात है, ऐसा करा देंगे कि बाबूजी क्या कालिज की छात्राएँ भी न पहचान सकेंगी।

"नाम से तो सभी परिचित हैं न"—पंकजा ने इधर-उधर करते हुये कहा।

"नाम की चिन्ता न करो, वह भी बदल सकता है।" कालेज की सेक्रेटरी और उसकी साथिन चली गईं।

पंकजा 'प्रोग्राम' देखने की आज्ञा कैसे प्राप्त करती वह चुपचाप अपने सोफे पर पड़ी हुई 'रजनी' उपन्यास के पृष्ठ पलट रही थी। उसके दिमाग में विचार चक्कर काट रहे थे—माँ की मृत्यु के बाद बाबूजी का आग्रह कितना था—पंकजा 'डान्स' सीख ले, तो जीवन भर सुख पाती रहेगी। एकाकीपन का एक साथी तुम्हें मिल जायगा।····

और उसके बाद अनेक उत्सवों में उसे ढेर-से पुरस्कार मिलते रहे। किन्तु आज न जाने क्यों बाबूजी नहीं चाहते कि वह कभी बाहर नृत्य में भाग ले ?···

उसने आँख उठाई तो सामने कलेण्डर हिल रहा था। उसकी दृष्टि ७ सितम्बर पर पड़ी। उसे शीघ्र ही अपने प्रश्न का हल मिल गया। 'अगली ७ अक्टूबर को वह १७ वर्ष की जो हो जायगी'—और वह स्वयं में सकुचा गई।

× × ×

श्रीकान्त ने कालेज के 'गेट' पर कार छोड़ी। पंकजा और श्रीकान्त दोनों ने प्रवेश-द्वार में प्रवेश किया 'यूनियन' की 'सेक्रेटरी' वहीं मिली। पंकजा को छात्राओं की ओर जाने के लिये संकेत किया और श्रीकान्त को अतिथियों की ओर जाने के लिये। पंकजा 'ग्रीनरूम' में जा पहुँची।

× × ×

एक के बाद एक, अनेक कार्यक्रम आते रहे। श्रीकान्त के मस्तिष्क में विचार कौंधा—"मैंने पंकजा को व्यर्थ ही रोका"—साथ ही समुचित उत्तर मिल गया—"अब वह १७ की तो हो चुकी।" तभी यूनियन की सेक्रेटरी 'स्टेज' पर आई; अतिथियों को सम्बोधित करते हुये कहा—"अब हमारी एक अतिथि 'कामिनी' की कला का प्रदर्शन होगा।"

"छम छम छम....नृत्य की पखों पर पंकजा स्टेज पर आकर, आते ही नमस्ते की ढार में झुक गई तालियों की गड़गड़ाहट ने 'नमस्ते' का उत्तर दे दिया।"

पंकजा अपने को भूलकर कला का प्रदर्शन किये चली जा रही थी। कभी वह देवदासी कभी कत्थक कभी कुछ कभी कुछ....। लोग 'वाहवाह' कर रहे थे। गा रही थी वह—"पद घुँघरू पहन मीरा नाची रे"—श्राकान्त को धक्का-सा लगा, कहीं पंकजा तो नहीं। अधिक बारीकी से देखना प्रारम्भ किया पर वे पहचान नहीं पाये। सोचा, "अन्य भी तो ऐसा गा सकते हैं।"

श्रीकान्त को बहुत ही सुन्दर लगा उसका नृत्य। झट से सेक्रेटरी को अपने पास बुलाया और एक स्वर्ण-पदक की घोषणा करादी। नृत्य समाप्त हुआ। लोगों को पता तक न चला कि नृत्य कब समाप्त हो गया।

"ग्रीनरूम' में पंकज 'मेकअप' बदल रही थी साथ की अन्य लड़कियाँ उसे बधाइयाँ दे रही थीं, आलिङ्गन में भर रही थीं। 'मेकअप' बदलकर वह किराये की गाड़ी से घर लौट आयी।

श्रीकान्त ने कोठी में पैर रखा। पंकजा के कमरे में 'लाइट' देखकर उसी ओर बढ़ गये। पंकजा नृत्य के श्रम से क्लान्त सोफे पर अस्त-व्यस्त लेटी थी।

श्रीकान्त ने पूछा—"पंकजा बिट्टी ; तुम पहले क्यों चली आयीं । मैं वहाँ प्रतीक्षा करता रहा, तुम्हारी सेक्रेटरी ने बताया कि तुम बहुत देर से घर चली गईं ।"

"मेरे सिर में दर्द हो रहा था, अतः बीच में ही चली आयी थी"—पंकजा ने बहाना किया ।

"तुमने कामिनी का नृत्य देखा ।"

"नहीं, कैसा था ?"

"बहुत सुन्दर, कला की पराकाष्ठा थी पंकजा ।"

"उसका नाम तो मैंने भी सुना था ; पर उसका नृत्य आज तक नहीं देखा ।"

"उसकी कला प्रसंशनीय थी बेटी ।"

"अच्छा···पर अब क्या ?"

"मैंने भी उसे स्वर्ण-पदक दिया है ।"

पंकजा लजाई । तभी उँगली पर लगा 'मेकअप' का चिह्न दृष्टिगत हुआ । उसने हाथ सिर के नीचे शीघ्रता से रख लिया ।

श्रीकान्त कह रहे थे—"उसके घुँघुरू के बोल बहुत मीठे और सुरीले थे पंकजा ! जैसे कि तुम्हारे घुँघुरुओं में ।

पंकजा श्रीकान्त का मुख ताक रही थी ।

डोम

— सत्यदेव चतुर्वेदी

सत्यदेव चतुर्वेदी

जन्म—८ जुलाई १९३३, आगरा।

सत्यदेव एक ऐसे कहानीकार हैं, जिनमें तरुणाई का आवेश है। आपका साहित्यिक जीवन कविता से आरम्भ होता है। कई कहानियाँ भी आपने लिखी हैं। कहानियों में निम्नवर्ग एवं मध्यमवर्ग के जीवन की विषम समस्याओं का मार्मिक चित्रण हुआ है।

आपकी कहानियाँ स्थानीय तथा कुछ बाहर के पत्रों में प्रकाशित हो चुकी हैं।

डोम

[श्री सत्यदेव चतुर्वेदी]

रघ्घू ने चिलम का एक लम्बा कश लिया और ढेर सारा धुंआ मुँह से निकाल कर मुर्दों को एक मोटी सी गाली दी और फिर टोग्गू से पूछा "क्या दद्दू मुर्दों ने हड़ताल कर दी है, जो एक भी लदकर नहीं आ रहा है।"

टोग्गू ने चिलम लेते हुए कहा "अरे भय्या आते ही आते आयेंगे कोई चूहों के मुर्दे थोड़े ही हैं, आदमी जितने कम मरें अच्छा ही है।"

रघ्घू का स्वर कुछ तीखा पड़ गया "हां टोग्गू दद्दू तुम तो ऐसा ही कहोगे। एक मुर्दे में बीस मन की लकड़ी की खपत होती है न, एक भी आ गया बस तुम्हारी चैन की छन गई, यहाँ पूछो एक मुर्दे पर आठ आना मिलता है, छौंक भी नहीं होता।"

टोग्गू हँस पड़ा और बोला "तब तो वाटर वर्क्स के पानी में जहर मिलादो, निरे मुर्दे ही मुर्दे हो जायेंगे और रुपये की भरमार हो जायेगी।"

रघ्घू मुसकरा पड़ा "दद्दू तुम कहते तो ठीक हो फिर तो मैं भी कफ़न की दूकान खोल लूँगा। तेरी दूकान की लकड़ी बिकेंगी और मेरी दूकान का कफ़न, टोग्गू चन्द रोज़ में सेठ हो जायेंगे।"

टोग्गू ने एक मीठी सी गाली दी "नाश जाय दाढ़ी जार का ऐसा उतावला हो रहा है पैसे के लिए, अबे निगोड़े क्या करेगा पैसे का ? अकेला है, न बीबी है न बच्चे हैं।"

"तूने लकड़ियाँ बेच-बेच कर अपनी अक़्ल भी बेच दी है। अबे जिस दिन बीबी घर में आ जायेगी भगवान् की क़सम साधू हो जाऊँगा, पैसे को तो फूटी आंख से भी नहीं देखूँगा" रघ्घू ने कुछ अकड़ के साथ कहा, पर टोग्गू उसकी बात सुन कर खिलखिला कर हँस पड़ा, "अबे कफ़न खसोट तू और साधू होगा ! हाँ ठीक है न तुझे कोई अपनी लड़की ब्याहेगा और न तू साधू होगा।" रघ्घू कुछ झेंप-सा गया। "ज़रा रुपया आने दे मेरी शादी तो कोई नहीं रोक सकता। दरोगाजी ने ५००) माँगें है, कहा है कि मेरी शादी मनोहरिया से करा देंगे।"

"रे रघ्घू कौन मनोहरिया ?" टोग्गू ने आश्चर्य से पूछा।

रघ्घू की बात उड़ादी और उँगलियों पर हिसाब लगाते हुए गुनगुनाने लगा "जेठ, असाढ़, सावन, भादों और क्वार" कह कर उछल पड़ा "बस दद्दू चार महीने बीच में हैं फिर तो शादी हो ही जायेगी।"

"तो क्या रघ्घू कोई पेड़ लगाया है जो चार महीने बाद रुपये उगलेगा"। 'हाँ हाँ दद्दू आहा क्वार में ही तो पिछली साल महामारी हुई थी, जब हमने खूब रुपया कमाया था। वही क्वार का महीना जब काका और अम्मा सभी चल बसे थे।"

टोगू ने पिछली बात को दुहराया "पर रघ्घू वह मनोहरिया कौन है?"

"दद्दू बस यही मत पूछो इसी कारण गाँव वालों ने और काका ने पीट कर मुझे गाँव से निकाल दिया, नहीं तो क्या मैं यहाँ आने वाला था।" यह कहते-कहते उसकी आँखों में खून उतर आया। "काका तो मर ही गये और अब गाँव वालों से बदला ही लेकर रहूंगा।" थोड़ी देर में रघ्घू चौंक कर खड़ा हो गया "उठ दद्दू किसी मुर्दे के आने की आवाज़ आ रही है, मालूम होता है कोई मोटी मुर्गी है अच्छी तरह हलाल करेंगे।"

दोनों धोती झाड़ते हुए मुर्दे की तरफ़ चल पड़े। कुछ पग ही चले होंगे कि रघ्घू ने कहा, "दद्दू यह तो बच्चे का मुर्दा है, इसमें लकड़ी नहीं बिकने की, चलो बैठ कर चिलम पियेंगे" यह कह कर रघ्घू ने टोगू को अपनी तरफ घसीट लिया और फिर कश खींचने लगे......।

× × × ×

रघ्घू डोम अपने हक का पूरा था। चाहे अमीर का मुर्दा हो या ग़रीब का वह अपनी अठन्नी और कफ़न ले ही लेता है। उसका काम केवल मुर्दों की देख-रेख करना था। मुर्दों को कछुए न खेंच ले जायें और मुर्दा अच्छी तरह जल गया या नहीं और कुछ किया तो लोगों के बैठने की जगह झाड़ देता था। गाँव के लोग उसे चंडाल कहते थे। कुछ लोगों का अनुमान था कि उसको भूत-प्रेतों की सिद्धि है और यह मुर्दों का नाश्ता करता है। इसमें कोई शक न था कि इसकी झोंपड़ी अन्दर से मुर्दों से सजी हुई थी। हमेशा झोंपड़ी के सामने हाड़-माँस के लोथड़े पड़े ही रहते थे। जब यह गाँजे का दम लगा कर आँखें लाल कर लेता था तो इस काले विशाल शरीर पर लाल आँखें देख कर बच्चों का तो कहना ही क्या, अच्छा खासा मनुष्य भी भयभीत हो जाता था। हज़ारों मुर्दे फूँकते-फूँकते उसका दिल इतना पत्थर हो गया था कि मुर्दे का आना उसको इतना ही अच्छा लगता था, जितना दूकानदारों के लिए ग्राहक का आना। चाहे किसी का बाप मरे या बेटा, चाहे वह जवान हो या बूढ़ा या

बच्चा उसे तो अपना हक़ लेना। हमदर्दी नाम की चीज कभी पाई भी नहीं थी तो वह क्या जाने !

टोगू तो अपनी झोंपड़ी में सोने चला गया, काफ़ी रात होगई थी, पर रघ्घू अभी तक बैठा अपनी चिलम पी रहा था। सोचता था यदि आज कोई मुर्दा नहीं आया तो कल सवेरे का खाना नहीं मिल पायेगा। उसने कुछ सोचा और उठकर अपनी झोंपड़ी में गया और भुनभुनाने लगा "एक भी खोपड़ी साबुत नहीं जो किसी डाक्टरी के स्टूडैण्ट को बेच दूँ।" वह नदी किनारे गया। यह सोचकर शायद कोई खोपड़ी पड़ी हो, पर हताश हो वह फिर लौट आया। इसी दौरान में 'राम नाम सत्य है' की भनक उसके कानों में पड़ी। उसके चेहरे पर खुशी झलकने लगी और वह दौड़ कर टोगू के पास गया और चिल्लाने लगा "हो दद्दू ! अरे क्या सोते ही रहोगे ? उठो मुर्दे की आवाज सुनाई देती है।"

"क्या बकता है रे—मुर्दे की आवाज़ सुनाई देती है" रघ्घू की बेसबरी की बोली पर नाराज़ होकर टोगू ने कहा।

"हाँ हाँ दद्दू मुर्दा आ रहा है, उठो न।"

पर टोगू नहीं उठा। उसने ऊँघते हुए कहा "लेजा चाबी तोलकर देदे लकड़ी" और गोदाम की ताली रघ्घू को देकर मुँह ढककर सो गया।

मुर्दे को लेकर आदमी पास आते जा रहे थे। रघ्घू ने मशाल जलाकर देखा वह सब उसी के गाँव के थे। उसे बड़ी प्रसन्नता हुई चलो मुर्गी टीले पर तो आई। में अब दुगुने तिगुने पैसे गाँठूँगा। "अरे कोई है ?" आवाज़ आई।

"हैं नहीं तो क्या मर गये हैं ? बोलो कितनी लकड़ी लोगे।" रघ्घू ने डपट कर कहा।

"कौन ? रघ्घू भैय्या !"

"हाँ, हाँ रघ्घू। बोलो कितनी लकड़ी चाहिये ?" रघ्घू की आवाज़ और कड़ी पड़ गई।

"यही दस मन।"

"दस मन में क्या मुर्दा फूँकोगे या सगुन करना है ? चलो चलो हमें क्या जितनी चाहो लो। चार रुपये मन होगी" रघ्घू की चढ़ आई थी ऐसा क्यों न बोलता।

"इतने ज्यादा दाम न बोलो रघ्घू यह तो अपनी ही......"

"अपनी पराई क्या होती है ? घोड़ा घास से दोस्ती रखे तो भूखा न मर जाये। यहाँ सब अपने ही आते हैं। लेना हो तो लो नहीं लम्बे पड़ो।"

अब किसी की हिम्मत नहीं थी कि उससे कुछ और कहे। और कह भी कैसे सकते थे ? उन्होंने उसके लिए अच्छा ही किया था ? लकड़ी तुला कर वह लोग चले गये और रघ्घू दूर बैठा चिलम के कश खींचता रहा।

जब लोग चिता में आग लगा कर चले गये तो रघ्घू ने चिलम रखकर रुपयों को निकाला और उनमें से एक रुपये को खन-खनाता हुआ गुनगुनाने लगा बस इन्हीं टुकड़ों की जरूरत है। ऐसे पाँच सो हों तो काम चले। वैसे तो कोई नई बात नहीं है, ज़रा में अपने नशे-पत्ते के खर्च में कुछ कमी लादूँ और उधर ज़रा मैं अपने हक़ को बढ़ादूँ, तो पैसा ही पैसा हो जायेगा और अगर कुछ कमीवेशी हुई तो क्या टोगू उधार नहीं दे देगा ? विवाह करते ही चुका दूँगा, फिर तो एक से दो हो जायेंगे कमाने को।

यकायक चिता से चटर-पटर की आवाज़ आने से उसकी विचार-धारा टूट गई, उसका ध्यान चिता की तरफ गया फिर अपनी चिलम पर जो कि अब तक बुझ चुकी थी। उसने सोचा एक चिलम और पीलूँ फिर सो जाऊँगा। रघ्घू ने चिता में से एक चहला अपनी चिलम जलाने को उठाया ही था कि साथ में एक-दो चहले और गिर गये। मुर्दे का ढ़का हुआ मुँह साफ़ दिखाई देने लगा। मुँह को देखकर वह चीख पड़ा—"यह तो वही है बिलकुल वही है.......क्यों ?........और कैसे ?" उसकी आँखों में आँसू झलक आये और वह चिता के पास खड़ा रोता रहा। रात भर रो-रो कर उसने चिता की लकड़ियों को सुलगाया।

सुबह जब गाँव के लोग आये तो उन्होंने देखा कि चिता धधक रही थी पर रघ्घू का कहीं पता न था। उसकी झोपड़ी में केवल डलिया भर राख थी जिसके चारों तरफ मुर्दों की खोपड़ियाँ लुड़क रहीं थीं।

शुतुरमुर्गों का शिकार

सत्यव्रत मिश्र

सत्यव्रत मिश्र

जन्म—१५ अगस्त १९२० ।

कहानी लिखने की प्रेरणा अपने पूज्य पिताजी से प्राप्त हुई । हास्य और व्यंग पर जन्म-सिद्ध अधिकार है और वह पैतृक सम्पत्ति है (आपके पिताजी का व्यक्तित्व वृद्धावस्था में भी अत्यन्त परिहासपूर्ण और जिन्दादिल है) । शौकत थानवी से आपके पिताजी का बड़ा प्रगाढ़ परिचय था । उनके साथ कुछ दिनों रहने से कहानी लिखने का शौक लगा ।

साहित्यिक-जीवन कविता लिखने से आरम्भ होता है किन्तु हास्य-व्यंग्य पूर्ण कहानी लिखने में ही प्रतिभा का विकास हुआ; वैसे कविता भी जब-तब लिख लेते हैं, पर कम । कहानी लिखकर छपाने का शौक कम, सुनाने का अधिक है ।

आजकल आप आगरा म्यूनिसिपल बोर्ड में काम कर रहे हैं ।

———

शुतुर्मुर्गों का शिकार

[श्री सत्यव्रत मिश्र]

गिलौरीदान से पान की दो गिलौरियें मुँह में रखने के वाद उसे बन्द करते हुए टिफली भाई यकायक ग्राँखें चढ़ाकर बोले, "मरदूद कहीं का !"

मैं चौंक पड़ा। देख रहा था टिफली भाई की तरफ ग्रौर सोच रहा था गुलमर्ग की पहाड़ियों की तरफ। ग्ररसा तीन साल वाद ग्राज टिफली भाई से मुलाकात हुई थी, इसलिये एकाएक समझा नहीं। "कौन ?" मैंने हड़बड़ा कर पूछा।

"वही हुदहुद का शोरवा", वह बोले।

"यानी मजहर", मैंने गौर से सोचते हुए कहा।

"जी"

"मगर क्यों ?" वह तो तुम्हारा जिगरी दोस्त है।

मगर इसका मतलब यह नहीं कि वह हर जगह ग्रपनी टाँग ग्रड़ाता फिरे; एक मसला हल नहीं कर चुकता हूँ कि दूसरा तैयार।"

"ग्राखिर मामला क्या है ?" मैंने जम्हाई लेते हुए कहा।

"बात वही पुरानी—यहाँ तो किस्सा ग्रलिफ लैला है, जो एक की दुम में दूसरा जुड़ा हुग्रा है। कहीं खत्म हो ही नहीं सकता।" टिफली भाई जरा तन कर बैठ गये।

"लेकिन कुछ कहो भी तो।"

"तुम्हें मालूम है कि मैंने पिछले बरस के पिछले बरस ज़ू के पाँच शुतु-मंर्गों का शिकार किया था।"

"ज़ू के शुतुर्मुर्गों का ?"

"ग्रमाँ लो तुम्हें यह बात भी नहीं मालूम। काफी चख-चख रही थी इस बात पर।"

"तुम भी ग्रजीव मज़ाक करते हो टिफली भाई। ग्ररे शिकार ग्रौर शुतुर्मुर्गों का, वह भी ज़ू में। एतवार नहीं होता।

"इसमें बेएतवारी की क्या बात है। एक ग्रदना सी बात कि मैंने पाँच शुतुर्मुर्ग मार दिये।"

"मगर भाई ज़ू में शिकार की बात कतई नहीं जँचती।"

"यही तो ठाठ हैं। लोग रिज़र्व फोरस्ट में शिकार खेलते हैं, और हम ज़ू के अन्दर शिकार खेल आये।"

"सरासर झूठ"

"बिल्कुल सच"

"मुझे ज़रा भर एतबार नहीं होता।" मैंने कहा।

"मगर हुआ ऐसा ही।"

"वह कैसे ?"

"अरे भाई ! यह क्यों नहीं पूछते। खामखाँ बेएतबारा पर अड़े हुए हो।"

"बताओ ?"

"भई हुआ यों....." टिफली भाई ने गिलौरीदान फिर खोलते हुए कहा तुमने सुना होगा कि त्योरस शाहिदा अपने यहाँ आई थी और चन्द महीने ठहरी थी। सारा फसाद उसी की बजह से हुआ। शुरूआत उसकी यों हुई....." और पान की दो गिलौरियाँ मुँह में रख कर टिफली भाई बोले। "तो शुरूआत यों हुई कि बड़ी आपा शाहिदा की शादी अख्तर से कर देने पर तुली हुई थीं, जो मुझे कतई सूट नहीं करती थी। क्योंकि शाहिदा जैसी चुलबुली लड़की का अख्तर जैसे गावदुम से कोई जोड़ न था।"

"कौन अख्तर ?" मैंने बीच में टोक कर पूछा—"वही जो बरमा से आया था ?"

"हाँ !"

"मगर वह तो आई० सी० एस० हो गया था, और शायद कहीं ज्वाइण्ट मैजिस्ट्रेट भी हो गया था ?"

"अरे हाँ वही"

"तो फिर वह गावदुम कैसे हुआ ? सूरत शक्ल का भी अच्छा है।"

"तुम भी पूरे वही हो म्याँ। आई० सी० होने से क्या कोई गावदुम नहीं होता। ज्वाइण्ट मैजिस्ट्रेट होना भी कोई बड़ी बात है। मेरे खयाल में तो यह सब डिग्रियाँ और ओहदे मनहूसियत की निशानी हैं।"

"वह कैसे ?"

"वाह वे हुदहुद ! अरे आई० सी० एस० और ज्वाइण्ट मैजिस्ट्रेट का और हमारा क्या मुकाबिला। मैजिस्ट्रेट हों या गवर्नर—म्याँ गुलाम तो गुलाम ही रहेगा। जो कहेगा अपने आका के लिये, जो करेगा अपने दुनियवी खुदा के लिये। अमाँ शराफ़त नाम को भी नहीं रह जाती इन लोगों में। कोई इन्हें

वाशराफ़त अगर झुककर आदाव वजाता है, तो यह महज सिर हिला देते हैं—बदतमीज़ कहीं के। हाथ उठाने और सिर झुकाने में शर्म आती है। जो डिगरी और ओहदा अपने को इन्सानियत से गिरादे वह भी कोई चीज़ है। फिर ये डिसिप्लिन वाले लोग—दावतों में अगर खखार आजाय तो अपने थूक को पीकदान में न उगलकर उलटे निगल जाते हैं—गन्दे कहीं के। उस पर इल्मे मजलिसी तो इन्हें छू भी तक नहीं गई है। शिराज के खतने में चचा ने इन अफसरों को दावत दी थी। अख्तरी नाचने के लिये आई। एक से एक उम्दा ग़ज़लें गाईं गरीब ने। महफिल फ़ड़क फ़ड़क उठी, मगर ये हुदहुद के शोरवे, बुत बने बैठे रहे। न माशा अल्लाह, न सुभान अल्लाह, लाहौल बिला कूवत।"

"मगर तुम्हारे इस लेक्चर से और शाहिदा वाली बात से क्या मतलब ? उसके लिये······"

"उसके लिये···बात काटकर वह बोले।" अमाँ उसके लिये जो जू के शुतुर्मुर्गों का शिकार न कर सके। उसकी तबियत खुश करने को सड़क पर ऐसी-वैसी जगह (मतलब यह कि जहाँ छोटे-मोटे लोग हों) अपनी कार न रोक सके, वग़ैरह वग़ैरह। भला ऐसे का शाहिदा से क्या मेल ?

"यह बातें कुछ जँची नहीं। साफ़-साफ कहो। यह शुतुर्मुर्गों वाला मामला क्या है ?"

"अरे हुदहुद ! मैंने कहा न, कि शाहिदा की शादी अख्तर से, मुझे सूट नहीं करती। क्यों कि में चाहता था कि शाहिदा मेरी हो जाय। मैंने घुमा-फिरा कर बड़ी आपा से लाख कहा मगर वह, अम्मी, चाची सब मुझको इतना ज्यादा लापरवाह और मसख़रा समझतीं थीं कि मेरे मत्थे शाहिदा तो शाहिदा किसी गरीब की लड़की भी सुपुर्द करने को तैयार नहीं थीं। चुनाचे मेरी सारी मिन्नतें बेकार रहीं। मैंने सोचा कि क्यों न शाहिदा ही को राजी कर लिया जाय और अपना काम बना लिया जाय।

एक रोज शाम को अख्तर हमारे यहाँ खाने पर आया हुआ था। दो-तीन मेहमान और भी थे। घर में एक मजे का हंगामा था, बुजुर्गों और जवानों की अलग-अलग टोलियें बटी हुईं थीं। शाहिदा रेडियो सुन रही थी। अख्तर भी उसी के पास बैठा हुआ था। मैं और शमीम भी वहीं पहुँच गये। शमीम शाहिदा से काफ़ी मजाक कर लेती थी, यहाँ तक कि अकसर पूछ बठनी थी कि "तुम्हें कैसा ख़ामिद चाहिये।" हस्व आदत वह इधर-उधर की बातें करते-करते पूछ ही तो बैठी शाहिदा से, खाविंद की पसन्द के बारे में। शाहिदा

सिर्फ मुस्करा दी, बोलीं नहीं। मैंने जो कि ऐसे ही मौके के इन्तजार में था, चट से कहा, "भई शर्माने की बात नहीं, पता तो चले किस बदनसीब पर बिजलियाँ कौंधने वाली हैं।" शाहिदा फिर भी मुस्करा दी, बोली नहीं। बात आई-गई हो गई।

"खाने पर इसी तर्ज के कुछ क़हक़हे चले। बड़ी आपा बोली; 'अख्तर' कल शाम को तुम्हें फुर्सत है?' मैंने कहा, जी नहीं।"

"मैंने तुमसे नहीं अख्तर से पूछा था।"

"तो क्या हुआ, मैंने बता तो दिया। मैं और अख्तर कोई दो थोड़े ही हैं।"

"मगर अख्तर को फुर्सत नहीं, तुम्हें कैसे मालुम ?"

"आपा यह सबेरे हवाई जहाज से कलकत्ते जा रहे हैं।"

"अख्तर हँस पड़ा, मैं कुढ़ गया, बड़ी आपा नाराज होगईं। अख्तर से बोली, अगर कल शाम को तुम्हें फूर्सत हो तो अपनी स्टेशन वैगन लाकर इन बच्चों को (शाहिदा की तरफ़ खास तौर से उँगली उठाकर) चिड़िया घर घुमा लाओ।"

"जो हुक्म", अख्तर बोला।

और अगर कलकत्ते से जल्दी लौटो तो मेरे लिये सिकन्दर बाग से केवड़े की एक कली लेते आना।"

"जी बहुत अच्छा।" अख्तर बोला।

दूसरे दिन शाम को सब तैयार हो गये। सर्दी का जमाना था, इसलिये सब ने अपने-अपने कोट मोटर में रख लिये और चल दिये।

"तुम भी गये ?"

"मैं क्यों जाता ? कोई बच्चा था जो अख्तर घुमाने ले जाता ?"

"तो तुम घर रह गये ठण्डी साँसें भरने के लिये।"

"अमाँ जाड़े में कोई गरम साँस भी भरता है ? सभी ठण्डी साँसें लेते हैं। मगर मैंने वह ठण्डी साँसें घर पर नही लीं।"

"फिर कहाँ ली ?"

"चिड़ियाघर में।"

"यानी तुम भी वहाँ पहुँच ही गये।"

"बिल्कुल !"

"फिर क्या हुआ ?"

"शमीम मुझको देखते ही बोली, सबर नहीं हुआ। कोई हम केवड़े की कली खा तो जातीं नहीं—पहुँचती तुम्हारे पास ही।"

च च च च अरे यही तो बताने आया था कि कहीं तुम लोग खामखा परेशान न हों। आज सुबह ही सब दरख्त केबड़े के नीलाम हो गये। अपने नवाब झम्मन ही तो ले गये हैं।"

"दरख्त—वह भी जाड़े में। सब हँस पड़े। इधर-उधर घूमते कुछ देर हो गई। ठण्डे हवा के झोंके ने सबको जाड़े का याद दिला दी नौकर को भेज-कर मोटर से कोट मँगवाये। सबने कोट पहने लिये। शाहिदा का कोट नौकर से लेकर मैंने उसे पहना दिया। उसके कोट का फ़र कुछ फट गया था।

"अरे तुम्हारा कोट अब तबदीली चाहता है शाहिदा!" मैंने कहा।

"नहीं अगर फ़र बदल दिया जाय तो भी ठीक हो सकता है।" अख्तर बोला।

शम्मी हँसकर बोली, "भई, जो हमें नया कोट बनवादे मैं तो उससे शादी करूँगी।" अबकी शाहिदा ने सर उठाया। ग़जब की अदा थी, अजब चितवन। उसके ठीक सामने रेलिंग के अन्दर पाँच शुतुर्मुर्ग के बच्चे जिनके नयें निकलते हुए भूरे और काले पर लहरा रहे थे, खड़े थे। उनकी तरफ देखते हुए शाहिदा बोली "नहीं, मैं तो सिर्फ उससे शादी करूँगी जो मुझे इन शुतुर्मुर्गों का शिकार करके इनके पर लादे।" शमीम बोली "अख्तर भाई! क्या खयाल है?"

"महज़ एक बेबकूफी। सरकारी चिड़ियाखाने की चिड़ियों का शिकार करने वाले की शादी बड़े घर में होगी।"

"बस हार गये। यही तुम्हारी हिम्मत है।" शम्मी बोली।

"इसमें हिम्मत की क्या बात। वेवकूफी और हिम्मत अलग-अलग चीजें हैं। ग़ैरकानूनी काम करना और अपने को झगड़े में फँसाना महज़ वेव-कूफी है।"

शम्मी के अपनी तरफ़ मुड़ने से पहले ही में वहाँ से खिसक दिया।

टिफ़ली भाई चुप हो गये। मैंने बेसब्री से पूछा "मगर इसके आगे क्या हुआ?" उन्होंने इत्मीनान से गिलौरीदान खोलते हुए कहा—"कुछ नहीं।"

"अरे साफ़-साफ़ कहो टिफ़ली भाई।"

"कुछ नहीं भाई (पान खाकर) सिर्फ़ दूसरे दिन शुतुर्मुर्गों का शिकार हुआ।

"अरे नहीं।"

"हाँ, हाँ हुआ।"

"मगर यार ! चिड़ियाघर में एक छोड़ पाँच-पांछ फ़ायर करना—ग़ैरमुमकिन ।"

"मगर फ़ायर किये किस मरदूद ने ?"

"फिर"

"दूसरे दिन शाम को पोटेशियम सायनाइड की गोलियाँ उनके दर्वे में डाल आया था । सवेरे तड़के एक लौंडे से मरे हुए बच्चे दिलकुशा के पुल पर मँगवा लिये ।"

'मगर शाहिदा ने तो शिकार करने को कहा था ।"

"जनाब बेवकूफ़ नहीं था । प्वाइण्ट टू टू साथ लेता गया था । मोटर में पाँचों शुतुर्मुर्गों को रखकर सीधा रेस्टफोर्स वाले मैदान के पीछे पहुँचा, और अलग-अलग रख कर पाँचों को गोली मारदी ।"

"शाबाश ! खूब सूझी । फिर ?"

"बस एक बात गड़बड़ हो गई । वहाँ से में मज़हर के यहाँ गया । मज़हर को सारा क़िस्सा बता दिया ।"

"दो घण्टे बाद मैंने पाँचों शुर्तुमुर्ग़ शाहिदा के क़दमों में ले जाकर डाल दिये । उन्हें देखकर शाहिदा बोखला गई और पीली पड़ गई । शम्मी ने देखा और वह मुस्कुराई लेकिन फौरन ही वह भी पीली पड़ गई । घर में थोड़ी देर में एक हङ्गामा मच गया । अख्तर को फ़ोन से फ़ौरन बुलाया गया । शुतुर्मुर्ग़ों को देखकर वह भी सकपगा गया । उसे उनके बारे में सुबह रेडियो पर खबर मिल चुकी थी । मगर में मुस्कुराता ही रहा ।"

"सचमुच उस दिन शहर भर में सनसनी फैली हुई थी । सरकारी चिड़ियाघर से शुतुर्मुर्ग़ ग़ायब हो गये । पुलिस सरगर्मी से तलाश कर रही थी ।

"घर में क़ब्रस्तान का सा सन्नाटा छाया हुआ था । शुतुर्मुर्ग़ों को जल्दी से दफ़न करने की सलाह दी गई । बड़ी आपा, अम्मी, चची, दौड़ी-दौड़ी कोई खुरपी ले आई और कोई कलछी । मैंने ज़ोर का एक कहकहा लगाया । सब और भी घबड़ा गये । मैंने खामोशी को तोड़ते हुए कहा "अरे आप लोग ऐसा बर्ताव कर रहे हैं जैसे सब के सब पागल हो गये हों । क्या मजाक है ? मेरी सारी मेहनत पर आप लोग पानी फेर देना चाहती हैं । ज़रा इनके पर मुझे उतार लेने दीजिए फिर मैं खुद ही सब ठीक कर लूँगा । यह कह कर मैंने शुतुर्मुर्ग़ उठाये और अपने कमरे में चल दिया । कमरे में उनके पर उतार कर उन्हें मैंने अपने लान के पास बेलों के झुरमुट में एक काफ़ी गहरा गढ़ा खोद कर

दफ़ना दिया। शाम को पर एक रेशमी कपड़े में लपेट कर शाहिदा के पास भेज दिये। उसी में एक ख़त भी था।

टिफ़ली भाई ख़ामोश होगये। मैंने बेसब्री से पूछा, "फिर क्या हुआ?"

"टिड्डी फुर से उड़ गई।"

"यानी।"

"यानी शाहिदा की शादी अख़्तर से हो गई।"

"अरे नहीं।"

"बिल्कुल।"

"बड़ी ज़लील निकली।"

"बिल्कुल नहीं।"

"वह कैसे?"

"तुम तो यार ख़ामख़ाँ पीछे पड़ जाते हो। बस यही समझ लो कि इसमें उसका कोई क़ुसूर नहीं था।"

"मगर क्यों कर?"

"तुम भी पूरे हुदहुद हो।"

"तुम्हें मेरी क़सम—बतादो वह कैसे?"

"शाहिदा को इस वाक़ये से मेरी तरफ़ कुछ ऐसी दिलचस्पी हुई कि उसने अख़्तर से शादी करने से साफ इनकार कर दिया। हालांकि ईमानदारी से उसका रुझान अख़्तर ही पर था। इधर अख़्तर को इस इनकार से काफ़ी सदमा पहुँचा। और उस तन्दुरुस्त आई० सी० एस० को दिल के दौरे आने लगे। वह इतने बढ़े कि हिन्दुस्तान के डाक्टरों ने उसे इटली ले जाने की राय दी। हवाई जहाज से वह इटली गया और वहाँ से जर्मनी। जर्मनी के हार्ट स्पेशलिस्ट ने जो साइकोलोजी से इलाज करते थे, राय दी कि अगर इसके दिल का सदमा दूर कर दिया जाये तो यह बिल्कुल ठीक हो सकता है, वर्ना दुनियाँ का कोई डाक्टर इसे एक महीने से ज्यादा जिन्दा नहीं रख सकता। लोग फ़ौरन ही वहाँ से लौट आये। बड़ी आपा और अम्मी यहाँ आकर मेरे आगे रोने धोने लगे। मैंने कहा 'मैं क्या कर सकता हूं?' वो बोली 'तू अगर चाहे तो अख़्तर की जान बचा सकता है।' 'वह कैसे?' मैंने पूछा। वह फ़ौरन बोलीं 'तू शाहिदा को मना ले कि वह अख़्तर से शादी करले।' और वह लोग इतनी गिड़गिड़ाई कि......" टिफ़ली भाई ने गिलौरीदान खोला।

"उसके बाद क्या हुआ?"

"अरे मैं कोई आई० सी० एस० तो था नहीं जो मेरी इन्सानियत मुझे

दग़ा दे गई होती"—पान खाकर वे बोले 'मैं राज़ी होगया, और शाहिदा को उसकी इनायतों का शुक्रिया देते हुए उसे इन्सानी फर्ज समझा दिया।"

"तो होगई उनकी शादी।"

"बड़े ठाठ से। मैं भी शरीक हुआ था।"

"जियो मेरे शेर! कमाल कर दिया तुमने।"

"अमाँ नहीं।"

"क्यों नहीं खूब कुर्बानी की तुमने।"

"लाहौल विला कूवत। यह अदना बातें भी कहीं शहादत में लिखी जाती हैं।"

"क्यों नहीं। तुम क्या समझते हो?"

"महज़ शुतुर्मुर्गों का शिकार।"

———

श्रीकृष्णचन्द्र खन्ना

जन्म—३ जुलाई १९१६ ई०, बाग मुजफ्फरखाँ, आगरा।

लिखने की रुचि १५ वर्ष की अवस्था से। साहित्यिक जीवन कविता-लेखन से आरम्भ हुआ, जो अधिकांश में नष्ट हो गई।

कहानी लेखन की प्रेरणा श्री रांगेय राघव के दीर्घ सम्पर्क से उभरी तथा प्रगतिशील लेखक संघ की गोष्ठियों से प्रोत्साहन मिला। आपकी कहानियाँ हिन्दी की मासिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं। अपनी कहानियों में समाज की विषमताओं का व्यङ्गात्यक शैली में यथार्थवादी चित्रण प्रस्तुत करना खन्नाजी की विशेषता है।

कहानी लेखक के अतिरिक्त खन्नाजी एक सफल अभिनेता भी हैं और जन नाट्य संघ में वे सक्रिय भाग लेते हैं।

आजकल आप स्थानीय डी० ए० वी० इण्टर कालेज में अध्यापन कार्य कर रहे हैं।

———

बसूला मेरा बेटा !

[श्री कृष्णचन्द्र खन्ना]

उस वस्ती में बच्चे से लेकर बूढ़े तक सब मवासीराम को जानते थे। मवासीराम बड़े जिन्दादिल थे। सुबह तारों की किरनों से ही स्नान-ध्यान करके फाटक में आ बैठते और बसूला हाथ में ले अपनी खुट-खुट शुरू कर देते थे। सामने एक छोटा-सा अलाव जलता रहता, जिसके पास एक तमाखू का डिब्बा, एक छोटी चिमटी तथा एक चिलम उल्टी करके रखी रहती। पास में एक कोने में पानी भरा एक डोल और लुटिया भी रहती। फुट-फुट, डेढ़-डेढ़ फुट के तख्ते के कई टुकड़ों में तीन-तीन टाँगें ठोक कर उन्होंने कई तिपाइयाँ बना रखी थीं, जिन पर कोई भी बैठ सकता था। वह स्वयं जिस टाट के टुकड़े पर बैठा करते, उसे न तो किसी ने कभी बदला जाते देखा और न कभी अपने नियमित स्थान से तिल भर इधर-उधर। नित्य उस स्थान पर झाड़ू लगती, छिड़काव होता और जहाँ टाट बिछा दिया जाता, क्या मजाल जो इस व्यवस्था में रत्तीभर अन्तर आ जाय। अपेक्षाकृत कृशकाय होने पर भी सुगठित बाँहों की माँसपेशियाँ और सुता हुआ चेहरा वर्षों की नियमित मेहनत का प्रमाण थे। माथे पर भभूत इसकी मोहर थी। मवासीराम के पास कोई न कोई बैठा रहता, मरम्मत के लिए ताँगे या गाड़ी वाले न सही चिलम पीने वाला ही सही। इस बहाने मवासीराम बात करते जाते और बसूले की चाल अपनी गति से जारी रहती।

मवासीराम के घनिष्ठ मित्रों में फजलू भी था। फजलू गाड़ियों पर रँग वार्निश करने का काम इसी फाटक में करता था। उस दिन फजलू के छोटे लड़के का निकाह होने को था। जब से उसका बड़ा लड़का मौलवी करीमउद्दीन के बहकावे में आकर घर की सब जमा-पूँजी समेट पाकिस्तान भाग गया था, फजलू के सामने यही खुशी का मौका आया था; फिर भी वह इस समय खुश न था।

मवासीराम को ऐसे समय फजलू की उदासी खटकी। कुछ दिल्लगी में बोले, 'क्या है बे ! सबेरे ही सबेरे जूते-खाई सूरत क्यों बना रखी है ?"

फ़जलू की आँखों में आँसू छलक आये, बोला, "कुछ नहीं उस्ताद ! घरम धक्के हैं, खाने ही पड़ेंगे, जिन्दगी के ।"

"अबे साफ़-साफ़ बोल, कुछ मालूम भी तो पड़े ।" मवासीराम अपने नथनों को फुला कर बोले ।

"उस्ताद, रमजानी का निकाह है न !"

"हाँ तो फिर ?"

"अजी फिर क्या, पहिले से तो मुँह से फूटा नहीं, अब एन बखत पर कह रही है कि बुद्धन सब गहने समेट कर पाकिस्तान ले गया, सो अब बहू को क्या देंगे ?" फजलू का इशारा अपनी बीबी की तरफ़ था । उकड़ू बैठा फजलदीन इतना कह कर अपने घुटनों के बीच में सिर दबाये कंकड़ी से जमीन कुरेदने लगा ।

"इतनी सी बात ? हो जायगा ! सिर्फ निकाह के वक्त ही जरूरत है, फिर तो नहीं ?"

"नहीं उस्ताद, फिर तो सँभाल लूँगा, बस चार भाइयों को दिखाने की बात है ।"

"बेफिक्री से तैयारी कर, सब हो जायगा ।" मवासीराम ने आश्वासन देते हुए कहा ।

रमजानी की बहू गहने पहिने छमछम करती ससुराल आ गई । मवासीराम आज फूले न समाते थे । अपनी मैली धोती पर कोरी मखमल की नई सफ़ेद टोपी और कुरता पहने बच्चों की तरह किलकते हुए फजलू के मेहमानों में घुल-मिल रहे थे ।

[२]

मवासीराम का एक ही लड़का था मुरली, जिसे उन्होंने बड़े लाड़-चाव से घर पर मास्टर रखकर पढ़वाया और उसे मैट्रिक पास करा दी थी । लड़का पढ़ लिख गया, तो उसे अब अपने पुस्तैनी काम से अरुचि हो गई । उसे अब अपने पिता की फजलू से घनिष्ठता भी अखरने लगी थी । बात-बात में झुँझलाता और कहता, "तुम्हें फजलू और करीमा के साथ बैठ कर चिलम पीते रहने की आदत पड़ गई है ;"

प्रारम्भ में तो मवासीराम ने समय के अपव्यय की बात समझ कर बेटे के संकेत को पसन्द किया और सोचा कि परिवार में एक व्यक्ति तो ऐसा हुआ जो समय की इतनी कदर करता है । लेकिन यह झुँझलाहट कालान्तर में जब तीव्र होती गई तो उन्हें बेटे का रवैया अखरने लगा । एक दिन कह ही

दिया—'बेटा, हमारा इनका तो चोली-दामन का साथ है। यह तो हमारे गुरु भाई हैं।'' मवासीराम को अतीत की स्मृतियाँ जाग उठीं। मट्टो गुरू का अखाड़ा, जिन्होंने अपना जीवन ही पहलवानी को अर्पित कर दिया था। जिनकी सुगठित देह पर हर समय अखाड़े की मिट्टी चढ़ी रहती, इसी से वह 'मट्टो गुरु' के नाम से प्रसिद्ध होगये थे। भादों की तैराकी का मेला—जब जमुना भरे कटोरे की तरह लबालब होती—वह फूलों भरा दौना जमनाजी को अर्पण कर 'जै जमना मैया' की कहकर पानी में उतर जाते। मवासी राम को याद हो आया, कैसे एक बार करीमा ने अपनी जान जोखिम में डाल उन्हें बढ़ी जमुना में डूबने से बचाया था। मवासीराम की आँखों के सामने फिर दृश्य आया—भिन्न-भिन्न अखाड़ों के हरे नीले लाल झण्डे गोटे की किनारी वाली रङ्गीन, चमकती हुई टोपियाँ, कन्धे पर लटकते हुए तूम्बे, आगे-आगे बड़े निशान के साथ धोंसे को आवाज, पीछे बाँसुरी की सुरीली धुन पर डण्डे खेलते लड़कों का गोल। ऐसा दृश्य जैसे दिग्विजय को जा रहे हों। खलीफा बद्दन अपने पट्ठों के साथ अपना अखाड़ा लिये जा रहे हैं। जिसका निशान दीनू पांडेय के हाथ में है। पीले झण्डे वाला गोल जग्गो गुरु का आया जिनके शागिर्द जुम्मन तैराकी में अपनी सानी नहीं रखते। एक के पीछे एक अखाड़ों का ताँता लगा हुआ है, जैसे आनन्द, उत्साह और उल्लास का ज्वार उमड़ आया हो। सोचते-सोचते मवासीराम गद्-गद् हो गये। मुरली कब का उठ कर चला गया था, उन्हें ध्यान ही न रहा।

[३]

सोते-जागते, खाते-पीते, उठते-बैठते जब भी मौका मिलता मुरली अपने पिता की मुसलमानों में रहने और हिलने-मिलने की आदत पर टीका-टिपणी किये बिना नहीं मानता। संघ वालों का उस पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि अब वह अपने पिता की फजलू और करीमा की घनिष्ठता को कतई बरदास्त नहीं कर सकता था। एक दिन सुबह फजलू मवासीराम के अलाव से चिलम भर रहा था। मुरली खाकी नेकर व सफेद कमीज पहिने, सिर पर काली टोपी लगाये और हाथ में लाठी लिए "शाखा" से लौटा। फजलू को देख कर बोला—"क्यों मियाँ रात को नींद भी आती है या नहीं!" मवासीराम इस भूमिका की पृष्ठ-भूमि ताड़ कर बीच में ही बोल पड़े—"जा, जा, अपना काम देख!"

"क्या देखूँ? जब देखो तब…"घुन्नाता हुआ मुरली बोला।

"जाता है या नहीं!" आँखें निकाल कर मवासीराम चीखे।

फजलू बीच में ही टोककर बोला—"अरे उस्ताद ! रहने भी दो, ऐसी क्या बात हुई ?"

"क्या रहने दो" बुदबुदा कर मवासीराम ने कहा—"बेटा है तो बेटे की तरह रहे। हम भी तो अपने बाप के बेटे थे, कभी उनके सामने सिर नहीं उठाया। और एक यह है कि कुछ करना धरना तो रहा दर-किनार, मेरे ही घर में मेरा बाप बन कर रहना चाहता है। मुझे पसन्द नहीं, रहना है तो औक़ात से रहे। जूते की जगह जूता—मैं सिर पर नहीं चढ़ा सकता।"

मुरली अपने पिता की आदत को खूब जानता हुआ भी जवाब देने से बाज नहीं आया। फजलू हत्बुद्धि-सा ठिठका खड़ा रहा। बात बढ़ती गई। अन्त में मवासीराम ने कह ही दिया—"जा, जो मुझ से होगी सो राम से होगी। मेरा तेरा इतना ही वास्ता था, मुझे अब तुझ से कोई मतलब नहीं।" और फिर अपना बसूला उठाकर बोले—"देख मेरा बेटा है यह, जब तक मेरे साथ है, मुझे दुनिया में किसी की परवाह नहीं। अब तू मुझे बाप समझे तो इस घर में पैर धरियो, नहीं तो जा जहाँ सींग समायें।"

[४]

बसूले की धार लकड़ियों के साथ समय को भी काटती गई। मवासीराम एक दिन अपने घर के सामने नीम के नीचे खाट पर चादर ओढ़े बुखार में पड़े थे। फजलू सिर दबा रहा था। अपने ऊपर छाये नीम को देखकर मवासीराम ने कहा—

"फजलदीन ! मैं इस कड़वे की छाँह में पड़ा हूँ, झूठ नहीं बोलूँगा। मैंने मुरली को दसवीं पास कराके क्या किया ? लौंडा हाथ से निकल गया। संग-सौबत ने बर्बाद कर दिया उसे। रोज की नई-नई बात सुनते-सुनते मेरा तो जी भर गया। बड़ा आदमी बनने की धुन में सब बुरे काम कर डाले।" फिर कुछ सोचते हुए बोले—"फजलू ! तू इन बड़े आदमियों की नकल कभी मत करियो, घुन की तरह पिस जायगा बेटा, घुन की तरह। अच्छी तरह समझ ले। मेरी क्या है, मैं तो अब हरवक्त तैयार बैठा हूँ। अस्पताल का डाक्टर ही उस दिन बोला—नहाना मत, निमोनिया हो जावेगा।···अरे निमोनिया मेरे बसूले को तो नहीं हो जायगा। मेरा बसूला पक्का ढाई सेर का है····इसने कभी मेरा साथ नहीं छोड़ा, मुझे तो अपने तन से ज्यादा इसी का भरोसा है।"

"उस्ताद, आराम करो!" फजूली बात काट कर बोला—"हकीम जी ने·······।"

"अबे तू फिकर मत कर। मेरी बीमारी ऐसी नहीं है।" तीखे स्वर में मवासीराम ने कहा। फिर अपनी आँख की पुतलियों को स्थिर कर जरा नर्मी से बोले—"यह तो धरमधक्के हैं, आते ही रहते हैं और भुगतने ही पड़ते हैं। मैं कोई घबराने वाला थोड़े ही हूँ! हमने बड़े-बड़े बखत निकाल दिये, यह क्या है! इस वसूले ने बुरे से बुरे बखत की कमर तोड़ दी।"

मवासीराम की बीमारी बढ़ती ही गई और साथ ही उनकी जिद भी। हकीम की दी हुई दवा दूसरों की आँख बचाकर फेंक देते और जहाँ तक बनता दवा खाने से पूरा परहेज करते। अन्य कोई परहेज तो जैसे उन्होंने सीखा ही न था। फजलू, करीमा आदि मित्र बराबर उनकी सेवा में लगे रहते। लोहे की ब्लैक में जेल काटने के बाद से मुरली भी पास में ही अपने एक मामा के घर में रहने लगा। उदास मन से अपने पिता की खैर-खबर लेता रहता। पिता से झगड़े की याद बराबर उसके मन को कचोटती रहती। वह समझौता चाहता था, लेकिन अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के साथ। पिता की बढ़ती हुई बीमारी और जिद उसके रास्ते में बाधक थी और दोनों में किसी के भी कम होने के चिह्न दृष्टिगोचर नहीं होते थे।

[५]

एक दिन मवासीराम तेज बुखार में प्रलाप कर रहे थे। फजलू ने नैनसुख के पूछने पर बताया कि जरा तबियत सम्भलते ही यह नहाये बिना नहीं मानते। हकीम जी बता गये हैं कि इन्हें हवा लग गई है।

"अबे! किसे हवा नहीं लगी? यह तो धरम-धक्के हैं खाने ही पड़ेंगे।" मवासीराम उसी जोश में बोले। आँखें बन्द कर उन्होंने छत की तरफ उँगली उठाई, "वह तङ्ग कर रहा है, मुझे। पर मैं तो अपने होश-हवास में उसकी अमानत सुपुर्द कर दूँगा........नहाओ मत जी, क्यों नहीं नहाओ? क्या अब यहाँ हमारी कोई बात ही न चलेगी? मैं तो नहाया और मन्दिर में जाके खूब नहाया....ले! अब तो लेगा इस चोले को? मैं भी तो देखूँ कैसे नहीं लेगा और कब तक नहीं लेगा?"

"लाला जी, कुछ सरसाम हो गया है इन्हें।" करीम धीरे-से नैनसुख से बोला। फिर भी मवासीराम ने सुन ही लिया। तपाक से बोले, "सरसाम हो गया है तेरे बाप को! सरसाम बता दिया है मुझे। लाला नैनसुख! जरा इधर आ जाओ मेरे पास। देखो तुम गवाह हो—मैंने इस चोले से दगा-फरेब नहीं होने दी है। मैंने हमेशा-हमेशा मेहनत की है और कड़ी मेहनत की है।

मैंने कभी झटके से रुपया कमाने की नहीं सोची, अपने वसूले से बड़ी गँठीली लकड़ियाँ काट कर काम किया है। वसूले बेटे ने भी कभी मुझे दगा नहीं दी। जब मुरली छोटा था—" कहते-कहते मवासीराम की आँखों में आँसू छलछला आये, गला अवरुद्ध हो गया। बात बदल कर बोले, "नैनसुख, मैं तुम से क्या कहूँ—मैंने अपने बसूले से बुरे-से-बुरे बखत की कमर तोड़ दी और अब मैं तुम से फिर कहूँ, जल्दी ही बखत आयगा, जब मेरे जैसे मेहनत-मजदूरी करने वालों को बिगाड़ने वालों के खाने खराब होंगे। वह जरूर किसी की कफन-काठी तैयार करेगा, जो मेरे जैसों के बेटों को बिगाड़ते हैं, वसूला मेरा बेटा........!

"फजलू! मेरी तबियत घबरा रही है....मुरली कहाँ है, मुरली...। मेरा वसूला खूब निभाई मेरे साथ इसने....अब मुरली को...लाओ....मेरा वसूला...ला मेरे हाथ में दे दे।"

फजलू मुरली को बुलाने दौड़ गया। करीम ने जल्दी से वसूला लकर मवासीराम के हाथ में दे दिया। मवासी ने उसे अपने हृदय के पास घसीट लिया।

मुरली ने रातभर जागने के बाद एक झपकी-सी ली ही थी कि फजलू के जगाने से एकदम दौड़ता हुआ आया। उसने देखा कि मवासीराम के गम्भीर चेहरे पर आँखों की पुतलियाँ स्थिर होकर जैसे उसकी ही प्रतीक्षा कर रही थीं। मवासीराम वसूला हृदय से लगाये अनन्त निद्रा में निमग्न थे।

मुरली ने अपने पिता की इस अविस्मरणीय मुद्रा को देखा और धाड़ मार कर रो पड़ा।

फजलू ने वसूला उठाकर मुरली के हाथ में दे दिया, "भैया उठो, ये तो एक दिन होता ही है। सबर करो!"

———

अधिकार और कर्तव्य

सुमन रायज़ादा

सुमन रायज़ादा

जन्म—३ अगस्त सन् १९३५, कासगंज, एटा।

परिवार में उनकी माँ की कवित्व शक्ति और पिता की विधि-विशेषज्ञता दोनों ने उन्हें प्रभावित किया। आपके व्यक्तित्व में भावुकता और सुकुमारता अधिक है। परन्तु अपनी पारिवारिक प्रतिष्ठा और समाज के बनते-बिगड़ते ढाँचे की विभाषिका ने उन्हें मानवीय दृष्टि देकर अपने उत्तरदायित्व के प्रति जागरूक बना दिया है। इसलिये वे प्रत्येक व्यक्ति और घटना की जाँच मानवता की कसौटी पर ही करती हैं।

उनकी कहानियों में भावुकता भी है, और सामाजिक वैषम्य से उद्‌भूत तीखापन भी। उच्च मध्यवर्ग में जन्म लेकर भी निम्न वर्ग के प्रति उनमें सहानुभूति इतनी अधिक है कि उनकी कृतियों में पीड़ितों के प्रति ममता उन्हीं का अंग-सी बन जाती है।

उनकी कहानियाँ अभी प्रारम्भिक अवस्था में हैं पर जो सांस्कृतिक दृष्टि और मानव की मानव के प्रति स्वार्थ-मुक्त दृष्टि लेकर वे चल रही हैं, उससे यह स्पष्ट है कि वे अच्छी कृतियाँ दे सकती हैं।

भावना और कर्त्तव्य

[श्री सुमन रायज़ादा]

"भावना ओ भावना ।"

"कल्पना में डूबी भावना जैसे सोते से जगी हो ।"

"कौन ? कर्तव्य !" साश्चर्य देखा उसने और बोल पड़ी "कैसे भूल पड़े इधर ।"

उत्तर न देकर कर्त्तव्य ने प्रश्न किया "भावना, कैसी अनमनी सी बैठी हो ? यह बिखरी केशराशि, यह मौन व उदासीन मुद्रा और यह अपलक दृष्टि !"

"कल्पना कर रही थी ।"

"कल्पना ? किसकी कल्पना ?"

"भाव की" और वह हँस पड़ी ।

"भाव की नहीं, कहो कर्त्तव्य की ।"

"जो भी समझो" और वह पुनः गम्भीर हो गई ।

"भावना तुम से ही प्रेरणा पाकर तुम्हारे कर्त्तव्य ने, कर्त्तव्य की अनुभूति की । कर्त्तव्य मार्ग पर अग्रसर होने के लिए तुम्हारा सहयोग अनिवार्य है, मेरी भावना । बोलो मेरी इष्टदेवी कब प्रसन्न होगी मुझ पर ?"

"जब तुम्हारी भावना समाप्त हो जायेगी" यह कहकर वह सहम गई । उसे अपनी भूल का आभास हुआ । नेत्र छलछला आये यह सोचकर कि उसने अपने कर्त्तव्य पर कुठाराघात किया है, पर वह विवश थी ।

"बोलो भावना, समस्त संसार उल्लास व आनन्द में विभोर है । क्या हम इसके अधिकारी नहीं ?"

"सम्भावना तो ऐसी ही है । भावना और कर्त्तव्य का संयुक्त जीवन कैसे आनन्दमय हो सकता है । कर्त्तव्य भावना से बहुत ऊँचा है । भावना के पाश में फँसकर कहीं वह अपने कर्त्तव्य को भूल न बैठे । मैं उसकी बाधक नहीं बनना चाहती ।"

"यह तुम्हारी ही व्यक्तिगत भावना है ।

"नहीं, यह प्रत्येक महापुरुष का अनुभव व अटल विश्वास है ।"

"पर मानव भावना से ही प्रेरित होकर कर्त्तव्य की पूर्ति भली प्रकार

कर सकता है। उसके अभाव में वह कर्त्तव्य केवल कर्त्तव्य के लिए ही कर सकता है।"

भावना के नेत्र उठे और पुनः ठण्डी साँस लेकर उसने गिरा लिएं। वह उसको कैसे समझाये कि प्रेरणा की आँधी, वेदना-मार्ग से विचरती उसे झँझोरती आगे बढ़ रही है। शक्ति रूपी बाती कर्म-कर्त्तव्य की वास्तविकता का महत्त्व रखकर ज़्वार भाटे की भाँति हिलोरते भीषण वायु के थपेड़े पर दीपायमान है।

आवेग में आकर कर्त्तव्य पुनः कह उठा "ओफ़! आज तुमने मेरा हृदय टूक टूक कर दिया" साथ ही दो आँसू टपक पड़े उसकी आँखों से।

"तुम्हारी भावना तुम से दूर नहीं। वह छाया की भाँति सदा तुम्हारे पीछे है। वह तुम्हें लक्ष्य पर पहुँचाये बिना न रहेगी। चाहे उसे कितनी ही पीड़ा क्यों न सहनी पड़ें। कितना ही त्याग क्यों न करना पड़े।"

"एक प्रश्न की अनुमति दोगी मुझे?" और वह बोला "तुम मेरे हृदय में आई ही क्यों थीं?"

"तुम्हें उच्चादर्श के शिखर पर पहुँचाने के लिए।"

कर्त्तव्य परास्त हो गया अपनी भावना के सम्मुख। भावना ने कर्त्तव्य का भार शक्ति को सौंप कर सन्तोष की साँस ली। वह अपने ध्येय-पथ से न हट सकी।

कर्त्तव्य दुःखी था अपनी भावना के अभाव पर। वह शक्ति को पाकर सुखी न था। रह रह कर भावना के शब्द उसके कानों में गूँज उठते थे।

"कर्त्तव्य तुम्हें मेरी आवश्यकता नहीं है, है शक्ति की। तुम पर मेरा अधिकार नहीं, शक्ति के साथ ही तुम्हारा संयोग अनिवार्य है। यही मेरी आकांक्षा और आशीर्वाद है कि तुम्हाना जीवन शक्ति के साथ आनन्दमय रहे।"

"भावना" वह चीख उठा। "इतनी निष्ठुर न हो। मेरी आशाओं पर तुषारापात न करो।"

"महत्वाकांक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी में रहता है।"

उसकी विचारधारा टूटी। शक्ति उसके साथ थी। उसे भावना के रूप में उसने देखा। भावना ने ही तो शक्ति प्रदान की थी उसे। आन्तरिक तेज़ व सौन्दर्य की वही तो विभूति है।

× × × ×

विश्व हिंसा की अग्नि से जल रहा था। असंख्य भोले नर नारियों के प्राणों की आहुति दी जा रही थी। विवाहितों का सुहाग, कुमारियों का सतीत्व

खुले आम लूटा जा रहा था। सर्वत्र त्राहि-त्राहि की पुकार मची थी।

ऐसी दशा में कर्त्तव्य अपने कर्त्तव्य मार्ग पर अग्रसर हुआ। भावना उससे उदासीन हो चुकी थी। शक्ति थी उसके साथ पर एक अपरिचित की भाँति। वह उसकी शक्ति न थी। लेकिन फिर भी वह प्राणों की बाजी लगा कर आगे बढ़ा। किसका मोह उसे रोकता।

एक शोर सुनाई दिया और साथ ही भावना का जयनाद भी कानों में पड़ा। अतीत की कारा में बन्दिनी स्मृति अधीर हो उठी। 'स्मृति जीवन का पुरस्कार होती है' फिर वह उसे पाने का अधिकार क्यों नहीं रखता। कर्त्तव्य के सम्मुख था भावना का चिर परिचित मुख। वही विशाल नेत्र, उन्नत मस्तक तथा साँवली भोली आकृति। कर्त्तव्य आनन्द विभोर हो उठा। एक धाँय शब्द के साथ ही भावना उसके सामने आ गिरी। उसका शिथिल तथा सिसकता शरीर कर्त्तव्य के सामने था। उसे समझते देर न लगी कि उसी के लिए तो उसने अपने प्राणों की आहुति दी। अपना जीवन उत्सर्ग किया। रो पड़ा वह। अस्फुट स्वर निकल रहे थे उसके मुख से "मेरी भावना मुझसे दूर जा रही हो। कर्त्तव्य की प्रेरणा तुम से मिली, शक्ति की अनुभूति तुमने दी। मेरी देवि ! तुम मझधार में छोड़कर मुझे जा रही हो। अब मैं कसे लक्ष्य की पूर्ति कर सकूँगा।"

एक क्षीण मुस्कान के साथ भावना बोली "तुम्हारी भावना तुमसे दूर नहीं। वह सदैव अपने कर्त्तव्य की सङ्गिनी है। अब तक हम तुम अलग अलग थे। हमारा यह अलगाव ही मेरे लिए तुम्हारा मोह था जो तुम्हें पथ-भ्रष्ट कर सकता था। अब मेरा तुम्हारा द्वत समाप्त हो रहा है और अब मैं तुम्हारी चिर-सङ्गिनी रहूँगी, तुम्हारी आत्मा की सङ्गिनी, तुम्हारी प्रेरणा बन कर। और शक्ति ! शक्ति तुम्हारे शरीर की सङ्गिनी है। तुम्हारी भावनाओं को मूर्त और साकार रूप देने वाली, तुम्हारा सम्बल तुम्हारा बल !

बेंत की कुर्सी

हरिहरशरण

जन्म—१५ दिसम्बर १९११, बदायूँ।

लिखने की रुचि अपने विद्यार्थी जीवन में ही इलाहाबाद के साहित्यिक वातावरण में रह कर पाई। आरम्भ में अंग्रेजी में कुछ कविताएँ लिखीं जो अंग्रेजी के पत्रों में प्रकाशित भी हुईं। १९५१ से हिन्दी में कहानियाँ लिखना आरम्भ किया और तब से आप निरन्तर कहानियाँ लिख रहे हैं पर प्रकाशन की विशेष चाह नहीं रही। इस संग्रह की कहानी आपकी पहिली ही प्रकाशित कहानी है, जिसे अपने मित्र रायसाहबसिंह 'अजीत' के अनुरोध पर ही संग्रह में दिया है।

आपकी कहानियों में मार्मिकता है और भाषा का सरल सौन्दर्य।

आजकल आप आगरे में न्याय विभाग में एक उच्च पद पर हैं।

बेंत की कुर्सी

[श्री हरिहरशरण]

मेरे भाग्य में अपयश की मात्रा असीमित है और जीवन के इन गिने हुए वर्षों में अनेकों बार भरसक प्रयत्न करने पर भी अपयश के आकस्मिक प्रहार से मैं तिलमिला उठा हूँ। और फिर अपने में मेरा विश्वास एकाएक कम होता जाता है। ऐसा क्यों होता है, यह मैं नहीं कह सकता। सत्य तो यह है कि मैं समझ ही नहीं पाता हूँ। यदि समझ पाता तो ऐसा होने ही क्यों देता। कदाचित आप ही मुझ को बता सकें या यूं कहिये कि मेरे दुर्भाग्य पर आप थोड़े से भी दुखी हो सकें तो मेरी आहत आत्मा को अन-जाने ही शान्ति का अनुभव हो सकेगा।

यशोपार्जन का प्रयत्न तो मैंने कभी नहीं किया; परन्तु अपयश के आघात से बचने के हेतु मैंने बहुत कुछ प्रयास किया है, फिर भी सब कुछ उल्टा ही बैठता है। परिस्थितियों के बवण्डर से मेरे निर्माणित सभी प्रासाद प्राय: नींव से हिल उठे हैं। मेरे अनुराग को आसक्ति, मेरे प्रेम को वासना, मेरी दया को हीनता और मेरी सहानुभूति को उपहास में परिणत कर देने की प्रतिक्रिया सदैव अनायास ही चल पड़ती है।

अपने जीवन में एक ऐसी ही घटना मन में उमड़ उठी। अपने में टीस भर कर उसे ही आपको सुनाना चाहता हूं। पर सन्देह मुझे यह है कि कहीं आप भी मेरे अभिप्राय को उल्टा न समझ बैठें। मैं सत्य कहता हूँ कि अभिप्राय मेरा कुछ भी नहीं है। केवल अपने बोझिल हृदय को हल्का करने की आशा से ऐसा करने का साहस बटोर सका हूं।

गोंडा ऐसे शहर में वार्षिक प्रदर्शनी कुछ न होते हुए भी बावले गाँव का ऊँट हो जाती है। सूर्यास्त होने के बाद ही सब कोई प्रदर्शनी की ओर ही चल देते हैं जैसे वह सबके जीवन-क्रम का एक स्वाभाविक अङ्ग सदैव से रहा हो—वही दूकानें, वही रोशनी और वही दर्शक। इतना सामान्य होने पर भी लोग जाते हैं और लगभग नित्य ही जाते हैं और विशेषत: मेरे वर्ग के अफसर जिनकी आँखें पहली तारीख की राह देखते-देखते थक जाती हैं और अभाव सफेद कपड़ों के भीतर से कंकाल की पसलियों की तरह झाँकने लगता है। जन-साधारण, अफसर और अभाव का कोई पारस्परिक सम्पर्क नहीं समझ

सकते। इसको केवल छोटे वेतन का बड़ा अफसर ही समझ सकता है। खैर मुझे यह आपको समझाना भी नहीं है।

तारीख २७ थी। खरीदना तो कुछ था ही नहीं परन्तु एक दुकान पर खड़ा-खड़ा मैं कुछ योंही देख रहा था। बराबर की दुकान पर मेरे पड़ौसी, पति-पत्नी तथा उनका एकमात्र पुत्र जिसे सब ही टूटू कहते थे, बेंत का बना सामान देख रहे थे। टूटू अभी बालक ही था, पर मुझ से पता नहीं क्यों बहुत हिल-मिल गया था। उसके माता-पिता तो न जाने क्यों मुझ से खिंचे-से रहते थे, पर वह मेरी कोठी में आकर फूल तोड़ ले जाता और तितलियाँ पकड़ता और यदि अवकाश होता तो घण्टे-आध घण्टे अपनी ममी व डैडी की बातें सुनाता। उसकी पिछली वर्षगांठ पर मैंने उसको हाकी-स्टिक दी थी, उसी से वह मेरे फालसे तोड़ता और कभी-कभी एक-आध बड़े प्रेम से मेरे मुख में रख देता।

माँ की अँगुली पकड़े वह दुकान के अन्दर जा रहा था, वहीं पर सामने ही एक बेंत की कुर्सी रखी थी छोटी और सुन्दर। टूटू ने उसे देखा और मचल गया। कीमत पूछी गयी परन्तु वह २७ तारीख के लिए बहुत अधिक थी। टूटू को समझाया गया कि उसे दुकानदार ने बेचने के लिए नहीं रक्खे हैं। परन्तु टूटू की आयु बिकाऊ और दिखाऊ वस्तुओं का अन्तर समझने में असमर्थ थी। अन्त में उसको डाँटा गया और फिर मैंने देखा कि टूटू की माँ उसका हाथ पकड़े दुकान के बाहर उसको लिये जा रही थी। वह घूम-घूमकर कुर्सी को देख रहा था और उसकी बड़ी-बड़ी आँखों में आँसू विजली के प्रकाश में झलक रहे थे। तभी उसकी दृष्टि मुझ पर पड़ी और उसने बड़ी लाचारी से देखा। उन आँखों में दुख था। लालसा थी या आशा, यह मैं नहीं कह सकता; पर उसके चले जाने पर मेरे पैर अनायास ही कुर्सी वाली दुकान की ओर उठ गए।

कभी-कभी मुझ को ऐसी बातें याद रह जाती हैं जो अधिकतर लोग भूल जाते हैं। मुझे याद आया कि पन्द्रह दिन बाद टूटू का जन्म-दिवस होगा। परन्तु मैं उस समय गौंडा से दो सौ मील दूर हूँगा। मेरे तवादले की आज्ञा आ चुकी थी और मैं चार या पाँच दिन में ही जाने वाला था। यही सोचता-सोचता मैं दुकान में गया और मैंने कुर्सी का मूल्य दे दिया। मेरे कहने पर दूकानदार इस पर सहमत हो गया कि जन्म-दिवस के दिन वह उस कुर्सी को टूटू के घर मेरी शुभकामनाओं का कार्ड लगाकर भिजवा देगा।

प्रदर्शनी से मैं अद्भुत सुख का अनुभव करता हुआ लौटा। मैं टूटू के ही बारे में सोचता रहा। कुर्सी देखकर टूटू नाच उठेगा और मेरे जाने के बाद भी एक नन्हा-सा हृदय मुझे कुछ क्षणों के लिए तो याद कर ही लेगा।

उस मयूराकृति कुर्सी की बनावट भी तो अद्भुत थी। कोई भी बालक उसको पाकर प्रसन्न हो जाता और विशेषतः वह जो उसकें लेने की लालसा रखते हुये न पा सका हो।

फिर में अपने सामान के बाँधने में व्यस्त हो गया। स्थानान्तर होते समय विदेशी नीति के अनुसार अपने सहकारियों के यहाँ भेंट करने भी गया और ऐसे ही एक दिन रेलगाड़ी की खिड़की से मैंने गोंडा की प्रायः सभी चीजों को अपने से दूर भागते देखा। ट्टट्ट से मैं न मिल सका। पता नहीं क्यों रेलगाड़ी सदैव से ही मेरी भावुकता को जगा देती है। मैं जानता हूँ कि स्पात-काष्ठ की इस दानवी में ऐसी कोई सामिग्री नहीं है, परन्तु मेरा विश्वास है कि भावुकता की सामिग्री अपने अन्तस्थल में ही रहती है। और समय के अभाव के कारण केवल विस्तारित नहीं होने पाती। मनुष्य को भावुक कोई बनाता नहीं है वह स्वयं हो जाता है।

हाँ तो अवकाश पाते ही ट्टट्ट की नन्हीं आकृति मेरे स्मृति-पटल पर थिरकने लगी। एक-एक करके उसकी प्रायः सभी बातें मुझे याद आने लगीं। उसकी मुखाकृति अपनी सुन्दर माता से बहुत कुछ मिलती थी, परन्तु मुझे सदैव ही वह अपनी माँ से भिन्न लगता। एक ओर मादकता और लावण्य था दूसरी ओर भोलापन और कोमलता। एक ओर क्रोध और दम्भ, दूसरी ओर शान्ति और सरलता। उधर था असीमित यौवन और इधर था सीमाबद्ध बाल्यकाल। हाँ कदाचित यही अन्तर था। ट्टट्ट की माँ को जब में देखता तो उनमें एक अद्भुत आकर्षण पाता, परन्तु आकृति से मनोवृत्ति पर ध्यान जाते ही मैं अपने से पूछ बैठता कि ट्टट्ट की माँ के अन्तर का बालक क्या कभी एक क्षण के लिए भी सजग नहीं हो सकता। उधर सदैव होता नहीं। और तभी में ट्टट्ट को प्यार करने लगता।

बनारस पहुँचकर में फिर व्यस्त हो गया। अवकाश के अभाव से बीती सभी बातें भूलने लगा। ट्टट्ट की जन्मतिथि मुझे बारम्बार याद आ जाती और मैं उसको उस मयूराकृति कुर्सी पर बैठे हुए इस २०० मील के अन्तर से भी देख सकता था। मेरे पास निमन्त्रण तो नहीं आया, पर मैं मन ही मन सोचता था कि कुर्सी को देख कर ट्टट्ट ही नहीं वरन् उसकी माँ भी विस्मृत होकर उन भावुक नयनों से उसे देखेगी और उनके अरुणिम डोरे उस नील विस्तार पर सजग होकर बिखर जायेंगे।

जन्मतिथि निकल गई और कुर्सी वाले का पत्र मेरे पास आ गया। उसने लिखा था कि कुर्सी उसने ठीक समय पर पहुँचा दी। परन्तु ट्टट्ट के पिता